श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी

का

राष्ट्रचिंतन

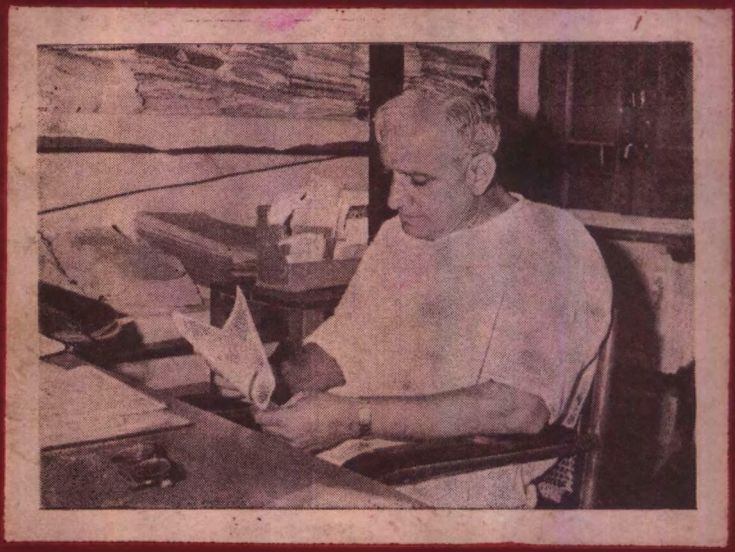

- राष्ट्र का आत्मविश्वास
- हिन्दुत्व की धारणा
- राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार
- कम्युनिज्म अपने ही कसौटी पर
- पिछड़े बंधुओ की समस्या
- सघे शक्तिः

भूमिका

माननीय श्री. दत्तोपन्त ठेंगडी जी १० नवम्बर १९८१ को अपने जीवन के ६१ वर्ष पूर्ण कर रहे हैं। इस उपलक्ष में उनका सत्कार एवं अभिनन्दन करने का कुछ अलग ढंग का यह प्रयास है जो, विश्वास है कि, एक स्थायी-साहित्य के रूप में पाठकों को भायेगा।

आज अपने देश की गहरी समस्या यह है कि मनुष्य का अपनापन का दायरा बहुत छोटा हो गया है। अपने स्वयं को, अधिक से अधिक अपने परिवार को वह अपना समझता है। मनुष्य वास्तव में जिस बात को अपना समझेगा, उसके लिये वह स्वयं हो कर विचार करेगा, अपने आप जो भी उस बात के लिये आवश्यक हो, स्वयं करेगा। चाहे जितने कष्ट उठायेगा, बड़ा से बड़ा त्याग करने तैयार रहेगा। यह उसका सद्‌गुण, अपनापन का दायरा ही संकीर्ण होने के कारण, आज उसके अपने और परिवार के अतिरिक्त और किसी बड़ी बात के लिये प्रकट नहीं होता।

यह दायरा बढ़ते हुए हमारे बन्धुओं में एक यह अनुभूति जागे कि, यह मेरी मातृभूमि है, में इसका पुत्र हूं, यह मेरा राष्ट्र है, इसके सारे राष्ट्रीय जन मेरे बन्धु हैं, उनकी हालत भी सुधरना चाहिये, साथ-साथ यह मेरा राष्ट्र फिर से परम वैभव के स्थान पर पहुंचना चाहिये, इस हेतु कष्ट करना मेरा अपना काम है। इस भावना को जगाने की आज महती आवश्यकता है। अपनी पवित्र भारत माता एवं अपने इस प्राचीन राष्ट्र की सेवा में पुर्ननिमिती का वातावरण बनाना एक श्रेष्ठ कार्य है, तथा वे हमारे अपने सम्मान विन्दु हैं, इस श्रद्धा को जगाना है।

इस कार्य की एक बृहत् व्यूह रचना अवश्य आज चल रही है। किसी भी महायुद्ध में एक विशाल सेना के भिन्न-भिन्न विभाग अलग-अलग मोर्चों पर डटे रहते हैं, और उन सभी का सामंजस्य भावनिक एकता (esprit'-de-corps) एवं सुदृढ सम्पर्क–सूत्र के आधार पर रखा जाता है। उसी प्रकार राष्ट्र के पुर्ननिर्माण के इस कठिन कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने वाले संघर्ष में, विभिन्न

मोर्चों पर जो कार्यअर्ताओं के समूह (राजनैतिक एवं केवल आर्थिक उधेड़बुन के बदले एक 'राष्ट्रनैतिक' कार्य में जुटे हुए हैं, उनके बीच एक स्थायी स्पष्ट विचार धारणा का अन्तः प्रवाह (under-current) बना रहना, ठोस एवं प्रभावी परिणाम के लिये आवश्यक है।

इस पुस्तक में संकलित, माननीय ठेंगड़ी जी के मौलिक एवं भारतीय संस्कृति के तौलनिक अध्ययन पर आधारित विचारों में झलकने वाला अन्तः प्रवाह निश्चय ही उस बृहत् व्यूह रचना में लगे हुए कार्यकर्ताओं को अमूल्य मार्गदर्शन करेगा। उनकी षष्ठयब्दि पूर्ति के अवसर पर श्री. उत्तम कानिटकर द्वारा संपादित इस संकलन का एक उद्देश्य और भी है। यदि यह पुस्तक नये सम्पर्क में आने वाले प्रबुद्ध नागरिकों के समक्ष रखी जाती है, जैसा कि कार्यकर्ता अवश्य चाहेंगे, विश्वास है कि, उन्हें भी एक मौलिक दृष्टि एवं आत्मविश्वासपूर्ण क्रियाशीलता की प्रेरणा प्राप्त होगी। "एक दीप दूसरा जलाये, ऐसे अगणित होवें—" के इस महान प्रयास में, अतएव, यह एक विनम्र योगदान।

प्रकाशक

शरदपौर्णिमा, १९८१

प्रकाशक : श्री. जुगराजधर द्विवेदी, केशवकुटि, सुभद्रानगर, ज ब ल पु र

मुद्रक : नरकेसरी प्रेस, श्रीनाथ की तलैया, ज ब ल पु र : फोन २६४८६

मूल्य पांच रुपये

राष्ट्र का आत्मविश्वास

'परं वैभवम्'

स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि अपना राष्ट्र वैभवसम्पन्न हो, अतः राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयंसेवक प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं जिसमें कहा है–'परं वैभवं नेतुम् एतत् स्वराष्ट्रम् (इस हमारे राष्ट्र को परम वैभव का स्थान प्राप्त कराने हेतु––) हमारा सारा प्रयास है । अब परम वैभव की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं । यह विश्व का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र हो, जैसा एक समय था कि मानव जाति ने व्यक्तिगत सामाजिक व्यवहार कैसा रखना चाहिये यह यदि सीखना हो तो यहां आकर सीखना होगा वैसी स्थिति, वैसा जगद्गुरु का स्थान भारत को फिर से प्राप्त हो ये सारी बातें परम वैभव की कल्पना में हैं । किन्तु एक तरफ हम आकांक्षा रखते हैं 'परं वैभवम्' की और दूसरी ओर प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति तो दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है–आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सभी दृष्टि से । यह तो परस्पर विसंगत बात लगती है । किन्तु जैसे समुद्र की लहरों का क्रम है, लहर ऊपर जाती है, नीचे आती है, फिर ऊपर जाती है, फिर नीचे आती है, वैसा हमारे राष्ट्र के इतिहास का है । एक समय ऐसा था, जब हमारी लहर ऊपर थी । हम जब 'परं वैभवम्' की आकांक्षा रखते हैं, तो हमारी आशा है कि आज नीचे आयी हुई यह लहर फिर ऊपर जायगी । आज तो यह बात अवश्य परस्पर विसंगत लगती है, किन्तु हमारा यह दृढ़ विश्वास है । आज तो हम निम्नतम बिन्दु पर खड़े हैं, किन्तु प्रार्थना रोज करते हैं कि 'परं वैभवं नेतुम् एतत् स्वराष्ट्रम् ।' इसे विसंगत मानने के कारण यह संदेह भी निर्माण हो सकता है कि यह एक मनमोहक (Wishful Thinking) स्वप्न मात्र है– होनेवाली बात नहीं दिखायी देती । इस तरह एक निराशा का, विफलता का वातावरण फैलता है ।

सारे सफलता के मित्र

आज जब हम हिन्दुराष्ट्र की बात करते हैं, तो लोग कहते हैं कि 'भाई यह हिन्दू–हिन्दू मत कहो ।' क्योंकि आज 'हिन्दू' शब्द के साथ Association (सम्बद्धता) बताने में किसी को कोई गौरव अनुभव नहीं होता । आज की हम री गिरी हुई हालत में लोग हिन्दू कहलाने में भी संकोच करते हैं । जहां गांव में कोई बड़ा सम्पन्न परिबार हो, तो वास्तव में रिश्तेदार भी नहीं वे भी उस परिवार से अपना संबंध बताते हैं, रिश्तेदारी जोड़ते हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि इस परिवार से नाता जोडने से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ जायगी । लेकिन आगे यदि वह परिवार नीचे गिरता है, आर्थिक संकट में आता है, तो फिर नजदीक के रिश्तेदार भी अपना नाता छिपाना चाहते हैं । सोचते हैं कि

ऐसे गिरे हुए परिवार से सम्बन्ध बताने से अपनी इज्जत घट जायगी। वही बात हिन्दू शब्द की है। आज इससे कोई सम्बन्ध बताना नहीं चाहता—सफलता के सारे मित्र, कठिन स्थिति में कोई साथ नहीं होता। सभी अपने आपको अलग बताना चाहते हैं।

अब हम विचार करें कि हम लोगों में आज जो (Diffidence) पराभूत मनोवृत्ति 'हिन्दू' शब्द एवं विचार के बारे में निर्माण हुई, जो (Inferiority Complex) हीनता की भावना निर्माण हुई है, उसका क्या कारण है। स्पष्ट है कि आज हमारी गिरी हुई स्थिति है। विश्व के राष्ट्रों में जो निम्न श्रेणी में हैं उनमें हमारी गिनती की गई है, सैन्य, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवनति की दृष्टि से की गई है। इसी समय पश्चिम के अन्य अनेक राष्ट्र बहुत आगे बढ़ गये हैं ऐसा लगता है। इसी कारण यह हीनता की भावना का निर्माण हुआ।

वास्तविकता क्या है

आज हम पिछड़ गए हैं यह तो वस्तुस्थिति है किन्तु एक बात देखना है कि यह जो हमारा पिछड़ापन है, क्या इसके कारण है कि हमारे राष्ट्र में अग्रसर होने की क्षमता ही नहीं है ? क्या हमारे अन्दर संसार का नेतृत्व करने की Potentiality (क्षमता) ही नहीं है ? क्या हम हमेशा पिछड़े हुए राष्ट्र के नाते ही रहें ? क्या क्षमता का मौलिक अभाव ही पिछडेपन का कारण है ? क्या हम आगे बढ़ने के योग्य ही नहीं हैं ? या क्या कुछ ऐसे कारण हैं जिन से हमारी क्षमताओं पर तात्कालिक परिस्थितिजन्य मर्यादाएं पड़ी है ?

अच्छे-अच्छे राष्ट्र भी तो विपरीत परिस्थिति में पीछे हट सकते हैं। क्षमताएं रहते हुए भी आगे नहीं बढ़ पाते। ऐसे कितने ही उदाहरण हैं। पौलैंड का इतिहास देखें। बार-बार उसका विभाजन हुआ। ऐसा लगा कि अब यह ऊपर नहीं उठ सकेगा। जर्मनी की दोनों महायुद्धों में पराजय हुई। कुछ समय तक लगा कि अब यह तो पिछड़ गया, खत्म हो गया। इजराइल के लोग अठारह सौ साल तक अपनी मातृभूमि पर पैर भी न रखे सके। इतना दीर्घ रहा उनका पिछड़ापन। किंतु हम देखते हैं कि ये तीनों राष्ट्र ऊपर उठ आये, क्योंकि उनका पिछड़ापन परिस्थितिजन्य था, क्षमताएं होते हुए भी विपरीत परिस्थिति में वे पिछड़ गए ऐसा लगा, किंतु वे फिर से आगे आये। हमें भी देखना होगा कि हमारा आज का पिछड़ापन क्या वास्तव में क्षमता के अभाव के कारण है या मात्र परिस्थितिजन्य है।

आत्मविश्वास की कमी क्यों ?

इस दृष्टि से यदि विचार करें कि आत्मविश्वासहीन मनस्थिति में हमें रखने वाली कौनसी बातें हैं जो पश्चिम की तुलना में हमारे यहां नहीं दिखतीं, जिनके कारण हमें लगता है : कि हमारे लिए कोई भविष्य नहीं ? तो ऐसी दो बातें सामने आती हैं एक तो है Ideology (वैचारिक सिद्धांत), और दूसरी है Technology (तन्त्र शास्त्र)। इनके बारे में पश्चिम से तुलना करने पर एक हीनत्व की भावना उत्पन्न होती है।

वैचारिक सिद्धांतों का अर्थ है, आज की समस्याओं के उत्तर देने वाले विचार। हम पढ़ते हैं, परिस्थिति का अध्ययन करते हैं, हमारे यहां भी पश्चिम जैसी Industrial Civilization (उद्योग प्रधान सभ्यता एवं वातावरण) आ रही है, उसके साथ-साथ नये प्रश्न भी उठ रहे हैं। लेकिन उद्योग प्रधान समाज में उठने वाले उन प्रश्नों का समाधान हमारी प्राचीन परम्परा में नहीं मिलता ऐसा हमें लगता है। पश्चिम ने तो कई Isms (विचार धाराएं) को जन्म दिया है, हमारे पास तो कोई विचार धारा नहीं है ऐसा सोचा जाता है। धर्म संस्कृति आदि की बातें, जिन्हें Obscurantism (काल विसंगत विचारधारा) कहा जाता है, हम भले ही करते रहे, किंतु आज के सामाजिक एवं व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर हिन्दू विचार में यदि उपलब्ध नहीं और आज की समस्याओं का उत्तर यदि हम दे नहीं सकते, तो स्पष्ट है कि हमारे अन्दर वह वैचारिक क्षमता ही नहीं है, और यह हमारे पिछड़ने का कारण है, ऐसी एक हीनता की भावना बन जाती है।

तन्त्र शास्त्र की भी यही बात। विज्ञान एवं तन्त्र शास्त्र में पश्चिम की बहुत प्रगति हुई है। वे चन्द्रमा पर पहुंच गये, और भी ऊपर जाने की संभावना है। हम तो धरती पर भी ठीक ढंग से चलना जानते नहीं। यह देखने पर स्वाभाविक रूप से लगता है कि हमारे अन्दर क्षमता यदि वास्तव में होती, तो हम भी चन्द्रमा पर पहुंचते। नहीं पहुंचे इसका सीधा अर्थ यही लगता है कि हमारे पास उतनी क्षमता ही नहीं है।

इन दो दिशाओं में पश्चिम की प्रगति हमें चकाचौंध कर देती है, और हमारे अन्दर अक्षमता की आत्मविश्वासहीन धारणा बन जाती है। लगता है कि हमारे अन्दर मौलिक रूप से ही अक्षमता (Inherent Incapacity) है आन्तरिक शक्ति (Potentiality) की कमी है। इसी कारण हम हिंदू विचार एवं हिन्दू जीवन के बारे में पराभूत मनोवृत्ति का अनुभव करने लगते हैं।

आज की कमजोरी केवल परिस्थितिजन्य

इसलिये यह सोचना होगा कि हमारी आज की पिछड़ी हुई स्थिति क्या आंतरिक अक्षमता के कारण है, या मात्र परिस्थितिजन्य है। हिंदू इतिहास जिन्होंने पढ़ा है वे एक तथ्य तो जानते हैं कि पिछले साढ़े ग्यारह सौ साल का हमारा इतिहास abnormal (असामान्य) रहा है। normal (सामान्य) नहीं। यह लंबा कालखण्ड विपरीत परिस्थिति का रहा है। उस कालखण्ड में हमें शांति प्राप्त नहीं हुई। इस समय पराये लोगों के आक्रमण हमारे ऊपर हुए जिनका प्रतिकार हम करते रहे। विभिन्न रणक्षेत्रों पर, विभिन्न सेनापतियों के नेतृत्व में भिन्न-भिन्न शस्त्रास्त्रों से, लेकिन एक सतत संघर्ष हिन्दू लम्बे समय तक करते रहे। इस तरह से यह साढ़े ग्यारह सौ साल का कालखण्ड विपरीत सा रहा। लम्बा युद्ध काल रहा। और इसी कारण, मानी हुई बात है कि कोई राष्ट्र जब युद्ध काल में रहता है स्वाभाविक प्रगति कर नहीं सकता। और तरह-तरह की बुराइयों को भी स्थान मिलता है। अपने यहां भी ऐसा हुआ। हमारा समाज गिरा हुआ है। सामाजिक दृष्टि से तरह-तरह के विभेद निर्माण हुए हैं। स्पृश्य-अस्पृश्य

भाव उत्पन्न हुआ है, जाति भेद भी, भाषाओं का संघर्ष भी, संकीर्ण पंथ-भेद भी है। कहा जाता है कि यह हमारी धर्म एवं संस्कृति के कारण हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है। हमारे धर्म एवं संस्कृति की शिक्षा ऐसी नहीं है। यह विकृति तो साढ़े ग्यारह सौ साल के युद्ध काल में निर्माण हुई है।

नयी स्मृति का निर्माण रुक गया

वास्तव में अपने यहां की पद्धति पूर्व में ऐसी रही कि धर्म के जो सनातन सिद्धांत हैं उनके प्रकाश में सोचा जाता था कि जैसे-जैसे समय बीतता जायगा और परिस्थितियां बदलती जायेंगी, नये प्रश्न निर्माण होंगे। पुराने प्रश्नों का मुकाबला करने के लिए जो पुराने नियम समाज में बने होंगे वे नई समस्याओं पर काबू पाने में असमर्थ हो जायेंगे अतः ऐसी स्थिति में क्या कुछ परिवर्तन आवश्यक है ? ऐसे समय में समाज के श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा एकत्रित होना, परिस्थिति में क्या परिवर्तन आया–पुराने कौन से प्रश्न काल विसंगत हो गये, कौन से नियम कालबाह्य बन गये, नये प्रश्नों का स्वरूप क्या है इन सब बातों पर बारीकी से विचार करना और नयी परिस्थिति में उपयोगी ऐसे नये नियम बनाना जिन्हें 'स्मृति' कहा जाता है, ऐसी नयी स्मृतियों का निर्माण करना यह प्रक्रिया हमारे यहां अखण्ड चलती थी। इस स्वस्थ पद्धति के कारण हमारे यहां कई स्मृतियां निर्मित हुईं। केवल एक ही स्मृति बनायी गयी हो और वही कयामत तक चलेगी ऐसा आग्रह किया गया हो, ऐसा हमारे यहां नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न स्मृतियां समय के अनुसार बनती गयीं। किन्तु बीच के साढ़े ग्यारह सौ साल के लम्बे कालखण्ड में जब अपना सम्पूर्ण देश युद्ध के वातावरण में रहा, हमारी गतिविधियाँ स्वाभाविक (साधारण) न रह पायीं और इस कारण समाज जीवन में गतिरोध आया, समाज के नेता एकत्रित होकर सोच विचार करते हुए समाज रचना के नये नियम बना सकें इसके लिये अवकाश ही नहीं था। नयी स्मृतियां निर्माण नहीं हो सकीं और स्वभाविक है कि जहां गतिरोध आता है, पानी जब रुक जाता है, तो उसमें गन्दगी पैदा होती है। वैसे ही गतिरोध के कारण समाज जीवन में गन्दगी पैदा हुई, ऊंच-नीच, स्पृश्य–अस्पृश्य, जातिवाद आदि तरह–तरह की बीमारियां फैल गयीं। यह सारी कमजोरी विपरीत एवं युद्ध जन्य स्थिति होने के कारण आयीं Inherent incapacity (आन्तरिक अक्षमता) के कारण नहीं। अपरिवर्तनीय वैश्विक नियमों के प्रकाश में अखण्ड परिवर्तनशील समाज–रचना, एवं परिस्थिति के अनुकूल स्वयं अपनी समाज–रचना में परिवर्तन लाने की आंतरिक क्षमता यह हमारी वास्तव में विशेषता है। किन्तु केवल लम्बे कालखण्ड में संघर्ष में व्यस्त रहने के कारण ही वह प्रक्रिया टूट सी गयी तो वह हमारी अक्षमता के कारण कदापि नहीं।

पश्चिम की समस्याएं यहां निर्माण ही नहीं हुईं

हम सोचें कि नयी समस्याओं का हल ढूंढने वाले जो भिन्न-भिन्न Isms (वाद) पश्चिम तथा अन्य देशों में पैदा हुए–एक ओर Capitalism (पूंजीवाद) से लेकर दूसरी ओर Anarchism (अराजकतावाद) तक–ये किस प्रकार के कालखण्ड में पैदा हुए ? ये सारे वाद और विचार Industrial Revolution (औद्योगिक क्रांति) के

पश्चात ही पैदा हुए हैं। इस क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आया, नये साधन सामने आये वृहत् उत्पादन की सामूहिक प्रक्रिया के कारण समाज रचना में परिवर्तन आया, नई समस्याएं भी निर्माण हुईं। फिर उन समस्याओं के समाधान ढूंढते हुए अपने-अपने ढंग से अलग-अलग वाद निर्माण हुए, विकसित हुए। यह औद्योगिक क्रांति अभी-अभी हुई, कुछ ही समय पूर्व। उसके पश्चात प्राप्त नये प्रश्नों का उत्तर खोजने वाले नेताओं ने अपने-अपने ढंग से समाज रचना पर विचार एवं प्रक्रिया बतायी, इसलिये अलग-अलग वाद बने।

अब चूंकि हम लोग इसी कालखण्ड के पूर्व से ही सतत युद्ध के वातावरण में रहे, इस तरह की औद्योगिक क्रांति हमारे यहां हुई नहीं। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि यदि हम शांति काल में होते तो बिलकुल यूरप का अन्धानुकरण करते हुए, उन्होंने जिस प्रकार की औद्योगिक क्रांति एवं Machine Age (यंत्रयुग) का निर्माण किया, वैसा ही हम करते। लेकिन यदि हम शांति काल में होते, तो वहां की औद्योगिक क्रांति जैसी महत्वपूर्ण घटना क्या है, कैसी है, उसके परिणाम कौन से हैं, हमारे समाज की दृष्टि से उनके Implications (प्रभाव) क्या हैं यह सारा सोचकर उसमें से कुछ Adopt (स्वीकार) करना-कुछ Adapt (संस्कारित) करना या कोई और तीसरी बात विकसित करना आदि की गुंजाइश रहती। वैसे दुनिया के साथ सम्पर्क रखते हुए, वहां क्या होता हैं उसकी जानकारी रखते हुए उस पर सोच विचार करने की हमारे यहां हमेशा प्रक्रिया रही, किन्तु विपरीत स्थिति एवं संघर्ष के लम्बे कालखण्ड के कारण वह गुंजाइश नहीं थी। इसी कारण यहां वैसी, औद्योगिक क्रांति नहीं आयी। उसके परिणाम स्वरूप होने वाले परिवर्तन यहां नहीं हुए। स्वाभाविक ही उसमें से निर्माण होने वाले प्रश्न भी यहां उत्पन्न नहीं हुए। आज के सभी वाद जिन प्रश्नों के उत्तर में पैदा हुए हैं, वे प्रश्न ही यहां नहीं थे।

जहां समस्या ही निर्माण नहीं हुई, वहां उसका उत्तर आपने क्यों नहीं दिया, और आपने उत्तर नहीं दिया इसलिये आप तो पिछडे हुए हैं, ऐसा कहना गलत होगा। जैसा कहा जाता है, प्रकृति में जहां-जहां बीमारी है, वहां भगवान ने कोई औषधि भी रखी है। लेकिन जब बीमारी होगी तभी तो औषधि का विचार होता है। औद्योगिक-क्रांति के कारण जो बीमारियां पश्चिम में उत्पन्न हुईं वे जब हमारे यहाँ आयीं ही नहीं, तो ऐसा सोचना बड़ा अन्याय होगा कि चूंकि उन बीमारियों की औषधियां हमने बनायी नहीं इसलिए हमारे अन्दर वैचारिक क्षमता की ही कमी है। ऐसा सोचना भी गलत है।

तंत्र-शास्त्र में पिछड़ापन केवल तात्कालिक

दूसरी बात तन्त्र शास्त्र की है। यूरोप का यह जो वैचारिक प्रवास शुरू हुआ वह European Renaissance (यूरोपीय पुनरुज्जीवन) के पश्चात शुरू हुआ। उसके पूर्व वैचारिक और विज्ञान एवं तंत्र शास्त्र की दृष्टि से पश्चिम कहां था, हिन्दुस्थान कहां था, इसकी यदि तुलना की जाय, तो दिखता है कि हिन्दुस्थान बहुत आगे बढ़ चुका था। यह तो पश्चिम के लोग भी मानते हैं कि हिन्दुस्थान सभी क्षेत्रों में एक अग्रसर राष्ट्र था, लेकिन यूरोपीय पुनरुज्जीवन के बाद हम पिछड़ते गये, वे आगे बढ़ते

गये। और विशेष रूप से देखने की बात है, कि उसके बाद का कालखण्ड और हमारे साढे ग्यारह सौ साल के संघर्ष का कालखण्ड, दोनों समकालीन हैं। लगभग एक ही समय उधर यूरोपीय पुनरुज्जीवन होकर प्रगति की दौड़ चली, और इधर जीवन–मरण का लम्बा संघर्ष चलता रहा। उनके हाथ पैर खुले थे, वे अपनी क्षमता के अनुसार दौड़ सकते थे जबकि हमारे हाथ पैर बंधे हुए थे, हम जीवन–मृत्यु के संग्राम में रत थे। Normal progress (सामान्य तथा साधारण प्रगति) की बात तो छोड़ ही दीजिये, राष्ट्र के नाते जिन्दा भी रहेंगे या नहीं, यही प्रश्न हमारे सामने था। तो जब आदमी ऐसे संघर्ष में उलझा हुआ है, उस समय वह अन्य मुक्त लोगों के साथ Competition (प्रतियोगिता) करते हुए अन्य प्रगति कर सके, ऐसा सम्भव नहीं होता।

परीक्षा में कोई विद्यार्थी जाता है। वह बहुत बुद्धिमान है, प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने की उसकी क्षमता है, हमेशा वह प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करता आया है। किन्तु यदि परीक्षा के समय वह बीमार हो गया, १०४ डिग्री बुखार उसे है, बिस्तर से उठना मुश्किल है फिर भी जैसे तैसे परीक्षा में पहुंच गया है, और वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हो पाता, तो आप क्या कहेंगे कि उसके अन्दर स्वाभाविक सामर्थ्य ही नहीं है। यह गलत है। उसका प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण न होना मात्र परिस्थितिजन्य बात है। आन्तरिक कमजोरी का लक्षण नहीं।

वैसे हमारा नवीन समस्याओं के उत्तर न दे पाना, तथा विज्ञान एवं तंत्र शास्त्र में पिछड़ जाना दोनों ही मात्र परिस्थितिजन्य बातें थीं, आंतरिक क्षमता के अभाव का परिणाम नहीं था।, यह बात आंखों से ओझल नहीं होना चाहिए। आँतरिक क्षमता हमारे अन्दर भरपूर है– वैचारिक दृष्टि से भी, विज्ञान एवं तन्त्र शास्त्र की दृष्टि से भी। पश्चिम से हमारी यह मौलिक क्षमता अधिक है, उतना ही नहीं, जो बातें हिन्दू राष्ट्र में विद्यमान हैं वे पश्चिम में भी नहीं हैं, ऐसा अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है। अतः हमारी आन्तरिक मौलिक क्षमता के बारे में हमें कोई निराशा का कारण नहीं है।

स्वतंत्रता, समता–किन्तु बंधुता कहां ?

पश्चिम में क्रांतिकारी परिवर्तनों का प्रादुर्भाव प्रथम French Revolution (फ्रांस की राज्य क्रांति) के समय हुआ। उस क्रांति में जिस त्रिसूत्री का उद्घोष किया गया वह थी–– 'स्वतंत्रता, समता बन्धुता'। आज इन तीन उच्च आदर्श सूत्रों का प्रत्यक्ष व्यवहार कहां तक हो सकता है यह हम देख सकते हैं। तीस साल पहले यह चर्चा बौद्धिक स्तर पर होती होगी, किन्तु आज उसका प्रत्यक्ष अनुभव सामने है। यूरोप में इनका जितना प्रयोग आज तक हो पाया है, उसमें प्रथम स्थापना की गई स्वतंत्रता की, माने व्यक्तिस्वातंत्र्य की।

शोषण की स्वतंत्रता–समता कहां ?

किन्तु मनुष्य का मन जैसा पहले था वैसा ही रहा, इसलिए धीरे-धीरे व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ दूसरों का शोषण करने का स्वातंत्र्य भी व्यक्ति लेता है ऐसा यूरोप ने अनुभव किया। यदि हर एक व्यक्ति को स्वतंत्रता है, चाहे जैसी अनिर्बन्ध प्रगति करने का

स्वातंत्र्य है, और यदि हर एक व्यक्ति साथ-साथ अहम्वादी भी होने के कारण वह केवल अपना ही विचार करता हैं, तो फिर बलवान को दुर्बल का शोषण क्यों नहीं करना चाहिये, धनवान को निर्धन का शोषण क्यों नहीं करना चाहिये, बुद्धिवान को निर्बुद्ध का शोषण क्यों नहीं करना चाहिये इसका कोई उत्तर, कोई Logic (तर्क) समाजशास्त्रियों के पास नहीं रहा। इस प्रकार व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ शोषण स्वातंत्र्य भी आ पहुंचा।

समता–स्वतंत्रता कहां ?

यह शोषण स्वातंत्र्य जब विकराल रूप में बढ़ता गया, थोड़े बलवान, धनवान, बुद्धिवान लोग बहुजन समाज का शोषण करते हुए जब दिखायी देने लगे, तो उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि, यह शोषण समाप्त होना चाहिये। शोषण स्वातंत्र्य कैसे आया, व्यक्तिस्वातन्त्र्य के कारण, तो व्यक्तिस्वातंत्र्य भी समाप्त होना चाहिये।' फिर सोचा गया कि ऐसी एक समाज रचना लाना चाहिये जिसमें व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता नहीं होगी। फिर कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। इस तरह की समाज-रचना का नियंत्रण करने वाली एक सर्वेसर्वा सत्ता (Dictatorship) निर्माण करने का विचार आया। याने दूसरा उद्घोष जो 'समता' का था, उसे लाने के लिये स्वातंत्र्य का अपहरण करते हुए, समता की प्रस्थापना किसी एकाधिकारी शासकीय सत्ता के सहारे करने की बात चल पडी। उसी के फलस्वरूप Communist States (साम्यवादी शासन) निर्माण हुए।

स्वतंत्रता समाप्त–लेकिन समता भी गायब

किन्तु आज इतने देशों में साम्यवादी शासन है, साम्यवादियों की तानाशाही प्रत्यक्ष कई देशों में चलती हुई दिखती है, हम समता की स्थापना करेंगे इस प्रतिज्ञा के साथ उन्होंने शासन ग्रहण किया है। रूस में ५०–६० वर्ष हो गये, अन्य देशों में भी ३० साल से अधिक समय बीता, किन्तु समता की स्थापना नहीं हुई। व्यक्ति स्वातंत्र्य का अपहरण तो अवश्य हुआ किन्तु समता नहीं आयी। इसी कारण हरएक देश में विद्रोह की भावना बढ़ रही है। रूस में भी, चीन में भी। जिन शोषित, पीड़ित, दलित लोगों के नाम से साम्यवाद आया, ऐसे ही लोगों ने पोलेण्ड में साम्यवादी शासन के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया था, जिसके सामने सत्ता को झुकना पड़ा यह ताजा इतिहास है।

तो समता वहां आ नहीं सकी। क्योंकि हम सबकी स्वतंत्रता का अपहरण करेंगे, लेकिन सबको समान बनायेंगे ऐसी प्रतिज्ञा करने वाली एकाधिकारी सत्ता की Agency (माध्यम) स्वयं लोगों से unequal असमान) बन जाती है। सबको समान बनाने की ताकत सत्ता के हाथों निहित होने के कारण ही सत्ता के लोग बाकी लोगों से असमान हो जाते हैं। The rulers and the ruled (शासक और शासित) इस तरह का भेदभाव निर्माण होने का प्रत्यक्ष अनुभव कम्युनिस्ट देशों में आ रहा है। अतएव ऐसा हुआ कि स्वतन्त्रता लायी, तो वहां अहम् के कारण शोषण आया शोषण के कारण समता का भंग हुआ। समता के नाम पर कोई शासन–व्यवस्था लायी तो स्वतन्त्रता का अपहरण तो हुआ, लेकिन समता भी नहीं आ सकी।

और बन्धुता का तो नाम नहीं

और बन्धुता की तो बात ही नहीं। क्योंकि लोग एक दूसरे को बन्धु समझें इसका कोई कारण पश्चिम की संस्कृति में नहीं है। उस अहम्वादी संस्कृति में इसका कोई उत्तर नहीं है। इस प्रकार मनुष्य के मन का विचार न करते हुए केवल रचना के पीछे सारी शक्ति-युक्ति लगाने के कारण, आज पश्चिमी राष्ट्र एक तरह से Wilderness (असमंजस) में हैं। आगे का रास्ता कैसे निकालना इस विषय में बडे संभ्रम में हैं। स्वतंत्रता आती है, तो समता नष्ट होती है, समता प्रस्थापित करने का प्रयास करते हैं, तो स्वतंत्रता का अपहरण होता है, फिर भी समता नहीं आती और बन्धुता का तो दूर से भी दर्शन नहीं। इन सबका क्या कारण ?

इस संभ्रम का समाधान हिन्दु विचार में ही

कारण यही है कि रचना में आप भले ही परिवर्तन कीजिए, मनुष्य का मन जब तक सुसंस्कारित नहीं है, जब तक कम से कम सम्पूर्ण विश्व की एकात्मता की दिशा में मेरा वैचारिक प्रवास शुरू होना चाहिए यह अनुभूति, यह Value of life (जीवन मूल्य) समाज के व्यक्ति- व्यक्ति में प्रस्थापित नहीं होता, तब तक स्वातंत्र्य और समता इन दो आदर्शों का मेल बैठना संभव नहीं। इस तरह का साक्षात्कार पश्चिम में व्यक्तिगत रूप से होगा, किंतु सामाजिक स्तर पर जीवन मूल्य के रूप में किसी समाज ने अपनाया होगा, तो वह एक हिंदू समाज ने ही अपनाया है। व्यक्तिगत स्तर पर अनेक लोगों ने प्रगति की होगी, किन्तु सामाजिक स्तर पर इस मौलिक जीवन मूल्य की प्रस्थापना केवल हिंदू विचार ने की है। स्वातंत्र्य एवं समता में मेल बिठाना (दोनों Incompatible (परस्पर विरोधी) नहीं है, उनका सामंजस्य स्थापित करना केवल इसी आधार पर हो सकता है कि हम सब एक हैं—बन्धु हैं।

वैसे हमारे 'सर्वं खल्विदं ब्रम्ह' का अनुवाद All are one (हम सारे एक हैं) नहीं होता तो सही अनुवाद होता है All is one (सारा सब कुछ एक ही है)। Are (हम सारे) कहने से बात आती है कि हम अलग-अलग हैं, किंतु अब एकात्मता निर्माण करना है। ऐसा नहीं है। जिसे हम अलग-अलग समझते हैं वह सारा सब कुछ एक ही है, (Is one) अस्तित्व मूलतः एक ही है, हम सारे उसके अविष्कार मात्र हैं। गहने अलग-अलग होंगे, किंतु मूलतत्व सोना एक ही है। खाद्य चीजें अलग बनी होंगी किंतु मूलतत्व आटा एक ही होता है। इस साक्षात्कार के आधार पर ही सब बातों में मेल बैठता है और किसी भी रचना में स्थायित्व आ सकता है अन्यथा नहीं यह हमारा हिंदू विचार आज पश्चिम के प्रत्यक्ष अनुभव देखने पर स्पष्ट रूप से सही नजर आता है पिछले साढ़े ग्यारह सौ वर्ष, असाधारण परिस्थिति के कारण हमारा वैचारिक प्रवास अधिक न हो सका, फिर भी पश्चिम के चकाचौंध करा देने वाले सारें Isms (वाद) कोई स्थायित्व एवं स्वास्थ्य, समाज को देने की क्षमता नहीं रखते वह क्षमता केवल हिंदू विचार में ही है, हिंदू जीवन मूल्यों में ही है, यह बात उनके अनुभव के आधार पर स्पष्ट रूप से कही जा सकती है। अतएव वैचारिक दृष्टि से हमें किसी प्रकार की आत्मविश्वास-हीनता और ग्लानि अनुभव करने का कोई कारण नहीं हैं। संसार को

आज भी स्थायित्व की ओर मार्गदर्शन करने की क्षमता हिन्दू विचार में भरपूर है, यह बात स्पष्ट है, हमारे लिए गर्व की बात है।

विवेकहीन वैज्ञानिक प्रगति में से क्या पैदा हुआ ?

जिस समय प्रजनन शास्त्रियों ने यह घोषणा की कि सन २०४० तक चाहे जिस गुणधर्म का आदमी शास्त्र बनाकर दे सकेगा, वहां के वैज्ञानिक तथा विचारक यह सोचने लगे कि इस तरह की प्रगति के फलस्वरूप विज्ञान महात्मा गांधी, भगवान बुद्ध और जीजस क्राइस्ट जैसे ही आदमी निर्माण करेगा इसकी क्या Guarantee (भरोसा) है ? हिलटर, मुसोलिनी समान राक्षसों की निर्मिती नहीं होगी इसका क्या भरोसा है ? वे सोचने लगे कि इसलिए विज्ञान की प्रगति की दिशा यदि तय नहीं की गई, तो दुनिया में अनर्थ हो सकता है, दुष्परिणाम हो सकते हैं।

इस भय का प्रत्यक्ष अनुभव पश्चिम के लोगों ने दूसरे महायुद्ध के समय किया। अणयुग के प्रथम पुरुष राबर्ट ओपेनहायमर, जिनकी अभी-अभी मृत्यु हुई, ने जिस समय अणु विस्फोट प्रयोग किया, तब उनके मन में ऐसी कल्पना नहीं थी कि इसका उपयोग नरसंहार के लिए किया जायेगा। वे स्वयं संहारक विचार के नहीं थे, इसका परिचय उनकी अपनी डायरी से मिलता है। उन्होंने लिख रखा है– मैंने अणु विस्फोट के कई प्रयोग किये थे किन्तु वे असफल हुए थे। यह आखरी प्रयोग दूर के किसी रेगिस्तान में किया जा रहा था, तब भी उसकी सफलता के बारे में मुझे सन्देह था। मैं दूर से यन्त्र द्वारा देख रहा था, इतने में विस्फोट हुआ। इस प्रयोग में सफल विस्फोट होने के कारण उस समय जो दृश्य निर्माण हुआ, उसके कारण मेरे मुख से स्वाभाविक उद्‌गार निकले– I am become death, the shatterer of the worlds ! (मैं तो मृत्यु बन गया, दुनिया की तबाही करने वाला साक्षात मृत्यु)।

अब यह जो उन्होंने कहा, यह भगवद्‌गीता का है। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत प्रवृतः।" यह बड़ी आश्चर्य की बात है। अणुविस्फोट का दृश्य देखकर पश्चिम के किसी वैज्ञानिक के मुखसे यदि कुछ उद्‌गार निकलता है वह या तो विज्ञान के सम्बन्ध में निकलता, या तो बाइबल में से निकलता। लेकिन उन्होंने जो कहा, वह तो गीता का वचन था, यह एक संयोग है। इससे उनके विचारों का, स्वभाव का परिचय तो मिलता है। लेकिन बाद में प्रत्यक्ष महायुद्ध के दौरान राबर्ट ओपेनहायमर के अन्वेषण का प्रयोग नरसंहार के लिए किया गया, तो वे वैज्ञानिक सोचने लगे कि यह हमने क्या किया ? क्या इसलिए हमने सारी तपश्चर्या की थी ?

विवेक का अंकुश

आज इस संभ्रम में पश्चिम है कि मात्र नोबेल प्राइज प्राप्त करने के लिये पता नहीं, विज्ञान की प्रगति में क्या–क्या किया जायगा। उन पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है, यह विचार पश्चिम में उठने लगा है। प्रजनन शास्त्र की सम्भावित उपलब्धि की जो बात बताई, उस पर अभी तीन वर्ष पूर्व अमेरिका के सिएटल नगर में बडी प्रयोग शाला में प्रयोग किये जा रहे थे। वैज्ञानिक इस स्थिति में पहुंच गये थे कि

क्रांतिकारी उपलब्धि प्राप्त हो जाती (a break through)। किन्तु उस प्रयोग के कारण और कोई विनाशकारी तत्व तो नहीं बनेंगे, इसका कोई अंदाज उन्हें नहीं हुआ था। जब यह बात फैल गई, तो सिएटल नगर निगम ने उन वैज्ञानिकों को पूछा कि इस प्रयोग के कारण जो bacteria (जन्तु) निर्माण होंगे, उनकी जाति कौनसी होगी वे बाहर फैले तो उनका मनुष्य जाति पर क्या परिणाम होगा ? तो वे कहने लगे कि यह तो नहीं बताया जा सकता। हो सकता है, कि ये जन्तु यदि प्रयोग शाला के बाहर जाते हैं तो एक तिहाई मनुष्य जाति का संहार हो जाय। तो सिएटल नगर निगम ने उन पर निर्बन्ध लगाये कि यह प्रयोग आप नहीं करेंगे। हमें ऐसी प्रगति नहीं चाहिए।

कम्प्यूटर विज्ञान (सायबरनेटिक्स) के प्रणेता डा० बिन्झेर ने, जो स्वयं वैज्ञानिक हैं, प्रश्न उठाया कि नोबेल प्राइज के लिये, इतिहास में अपना नाम लिखवाने के लिए वैज्ञानिक चाहे जो प्रयोग करेगा, किन्तु मनुष्य जाति को उसकी कितनी कीमत चुकाना पडेगी ? ऐसा तो नहीं, कि वह कीमत भयानक होगी ? विज्ञान को यदि अनिर्बंध स्वतन्त्रता दी गयी तो उसके परिणाम मनुष्य जाति के लिये विनाशकारी तो नहीं होंगे ? इस पर विचार करने पर जोर देते हुए डा० बिन्झेर ने एक उदाहरण देकर अपनी आशंका प्रकट की -- अंग्रेजी में एक प्रख्यात कहानी है। Monkey's Paw (मंकीज् पा) नाम है उसका। यूरोप के किसी एक जगह शाम के समय एक परिवार के यहां एक आदमी पहुंचा। कडाके की सर्दी थी, उसने कहा आज की रात मैं, आपके यहां रुककर सबेरे चला जाऊंगा। उसका स्वागत हुआ। दूसरे दिन सबेरे जब परिवार के लोग उनके साथ नाश्ता करने बैठे, तो उसकी जेब से कोई चीज गिरी। पिताजी जी ने उससे पूछा यह क्या है ? उसने कहा यह है मंकीज् पा। इसकी विशेषता है कि यह जिसके पास होगा, उसकी पहली तीन इच्छाएं पूरी करेगा। किन्तु एक बात और-उस आदमी पर कुछ संकट भी आयेगा, जो इसे पास रखेगा।

अब पिताजी को कुछ दो सौ पौण्ड की जरूरत थी। उन्होंने अपने लड़के से मांगना ठीक नहीं समझा। सोचा, मंकीज् पा रख लेंगे, अपनी इच्छा पूरी होने पर इसे फेंक देंगे। उन्होंने उस आदमी से उसे रख लिया। लड़का जब फैक्टरी में काम पर जाने लगा, तो उसने कहा भी कि पिताजी, इसके साथ खतरा भी होता है। पिताजी ने कहा तुम चिन्ता न करो। थोडी देर बाद मैं इसे छोड़ दूंगा।

दोपहर के समय एक आदमी आया, उसने पूछतांछ की, और पिताजी को दो सौ पौंड का चेक देकर रसीद ली और वह चलने लगा। पिताजी बड़े खुश हुए कि मंकीज् पा के कारण अपनी इच्छा पूरी हुई। फिर उन्होंने रोककर पूछा, भाई यह चेक है किस बात का ? मुझे क्यों दिया गया ?

उसने कहा, मैं दुखी हूं। आपका लड़का फैक्टरी में आज मशीन की चपेट में आया और उसकी मृत्यु हो गई है। कर्मचारी सुरक्षा योजना के अन्तर्गत यह पहली किश्त आपको मालिकों ने भेजी है। अगली किश्तें भी नियमित रूप से दी जायेंगी। यह उहाहरण देते हुए डा. बिन्झेर ने प्रश्न किया कि विज्ञान एवं तंत्र शास्त्र के कारण

हमारी कुछ इच्छाएं तो पूरी होगी, लेकिन उसकी कीमत कितनी देना पड़ेगी ? सम्पूर्ण नरसंहार यह तो उसका मूल्य नहीं ?

और इस दृष्टि से उन्होंने कहा कि तकनीकी जानकारी (Technical know-how) में प्रगति होना मनुष्य के लिए सुरक्षा की बात नहीं है जब तक उस जानकारी के ऊपर Technical know-what (तकनीकी उद्देश्य) का नियंत्रण न हो। तकनीकी जानकारी का मतलब उन्होंने बताया कि निर्धारित उद्देश्य कैसे प्राप्त करना। किन्तु तकनीकी उद्देश्य का अर्थ बताया कि कौन से उद्देश्य हमें तकनीकी ज्ञान के कारण प्राप्त करना है। यदि उद्देश्य का जानकारी पर नियंत्रण नहीं रहा, तो दुर्गति हो जायगी। इस विषय पर गम्भीर चिन्ता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा Technical ombudsman (तकनीकी विवेकशील नियंत्रक) होना चाहिये जो एक नियंत्रक शक्ति के रूप में विज्ञान एवं तंत्रशास्त्र को उद्देश्य प्रदान करते हुये उस पर अंकुश रखेगा।

आगे उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा कि इस नियंत्रक शक्ति के संचालन में वैज्ञानिक एवं तंत्रज्ञों को नहीं रखना चाहिये क्योंकि नोबेल प्राइज के चक्कर में उन्हें दुनिया में क्या होगा इसकी फिक्र नहीं। सम्पूर्ण मानव जाति के बारे में जिनके मन में प्रेम है, मानव जाति का जो कल्याण चाहतें हैं, जिनका ऊंचा सांस्कृतिक स्तर है, ऐसे संस्कारित लोगों की यह नियंत्रक शक्ति होनी चाहिये। उनके ही नियंत्रण में विज्ञान एवं तंत्र शास्त्र की प्रगति होनी चाहिये। स्वयं वैज्ञानिक होते हुएभी डा० बिन्झेर ने यह बात कही।

सारांश

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन सभी बातों को सोचने पर वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हमारे दृष्टाओं का विचार था कि बाह्य परिस्थिति और मनुष्य का मन, दोनों का महत्व है। दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, किन्तु अधिक मौलिक बात है मनष्य का मन। वह जब तक सुसंस्कारित नहीं होता तब तक किसी भी समाज रचना में स्थायित्व एवं स्वास्थ्य नहीं निर्माण हो सकता। यह स्वयं पश्चिम के अनुभवों के आधार पर भी कहा जा सकता है।

इसलिये हम जो पश्चिम के वैचारिक प्रवास के कारण चकाचौंध हो रहे हैं, साथ में उनकी विज्ञान एवं तन्त्रशास्त्र की प्रगति को देखते हुए हम आश्चर्यचकित हो रहे हैं, उनका विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा मनुष्य के मन के संस्कारों की हमारे देश की प्रणाली असीम महत्व रखती है। यह प्रणाली हमारे यहां होने के कारण, 'सारा अस्तित्व एक है और हम सभी उसके अंश है' यह धारणा हमारे Value of life (जीवन मूल्य) में होने के कारण, हमारे यहाँ मनुष्य का मन 'अहम्' के ऊपर उठ सकता है, हमेशा उठता आया है।

आज हम पिछड़ गये हैं यह बात सही है। ग्यारह सौ–साढे ग्यारह सौ साल के गतिरोध के कारण, हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में तरह–तरह की गन्दगी पैदा होने के कारण, हम पिछड़ गये हैं। किन्तु यह हमारी किसी अन्तरिक अक्षमता के कारण नहीं, मात्र परिस्थितिजन्य है। हमारी अन्तरिक क्षमता भरपूर है—वैचारिक

भी, विज्ञान एवं तन्त्रशास्त्र की भी। इसके अतिरिक्त हमारी एक और विशेष क्षमता है, जो हमें मनुष्य जाति को बचाने वाले विवेकपूर्ण अंकुश का निर्माण करने की भूमिका प्रदान करती है, क्योंकि हम अपने संस्कारों के कारण अहम् के ऊपर उठ सकते हैं। परस्पर विभेदों में विविधता का साक्षात्कार करना, विविधता के अन्तर्गत बहने वाले एकात्मता के प्रवाह का अनुभव करना यह क्षमता हम अपने संस्कारों के आधार पर निश्चय ही रखते हैं, इसका हमें आत्मविश्वास होना चाहिये। यही विश्वास होने के कारण अर्नाल्ड टायन्बी ने हमारी आज की विपरीत स्थिति को जानते हुए भी कहा कि आने वाले भविष्य में यदि मनुष्य जाति को बचाना है, तो यह क्षमता केवल हिन्दुस्तान में ही है। उनका यह विश्वास तथा हमारी प्रार्थना में हमारी 'परं वैभवं नेतुम् एतत् स्वराष्ट्रम्' की आकांक्षा, दोनों एक ही दिशा में जाने वाली बातें हैं, केवल wishful thinking (दिवास्वप्न) नहीं। क्योंकि हमारे अन्दर आवश्यक स्वाभाविक क्षमता पर्याप्त मात्रा में है।

आज भी विज्ञान एवं तंत्र शास्त्र में तथा अन्य तकनीकी प्रक्रियाओं में हमारे लोग अमेरिकन, जर्मन, रशियन लोगों के बराबरी से कार्य कर रहे हैं। और वैचारिक दृष्टि से भी हमारे विचारक आज पीछे नहीं हैं। कोई ऐसा विचार नहीं जिसकी हिन्दु कल्पना नहीं कर सकता। जब कार्ल मार्क्स ने अपना 'दास कैपिटल' ग्रन्थ प्रकाशित किया और काम्यून (निरपेक्ष सम्पूर्ण समूह व्यवस्था) की कल्पना रखी, उसी समय लगभग उसी वर्ष, श्रीविष्णुबुवा ब्रह्मचारी नाम के एक हमारे यहां के विचारक ने स्वतंत्र रूप से विचार रखते हुए अपने ग्रन्थ में भी काम्यून जैसी योजना का वर्णन किया है। एक ही समय दोनों ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से, एक दूसरे की जानकारी न होते हुए, लिखे गए हैं। यह मतलब नहीं कि काम्यून कोई प्रमाणभूत रचना है। किंतु इससे एक बात तो स्पष्ट नजर आती है कि वैचारिक दृष्टि से हिन्दू प्रतिभा पश्चिम से किसी भी तरह से पीछे नहीं। विज्ञान एवं तन्त्रशास्त्र में भी श्री हरबंसलाल खुराना, श्री सी० व्ही० रमण, श्री जगदीशचन्द्र बोस जैसे हिन्दू विख्यात हैं। इस प्रकार हमारे अन्दर क्षमतायें भरपूर हैं। हमारी क्षमता सम्पूर्ण विश्व को सन्तुलित मार्गदर्शन करने की भी है, जो अन्य कहीं नहीं है।

इस विश्वास के साथ यदि हमने सोचा, तो कभी-कभी 'हिन्दू' शब्द के बारे में हमें जो एक न्यूनत्व की ग्लानि, एक आत्मविश्वासहीनता अनुभव होती है वह असमर्थनीय (unwarranted) है यह बात हमारे समझ में आयेगी, और आज की परिस्थिति में भी परम वैभव की दिशा में मार्गक्रमण करने का आत्मविश्वास हमारे अन्दर जागृत होगा।

हिन्दुत्व की धारणा

संप्रदाय नहीं–स्वार्थ के कारण झगडे

रिलीजन के कारण दुनिया में भी क्या कभी झगडे हुए ? दुनियां में भी कभी झगडे नहीं हुए। रिलिजन का नाम लेकर, अपना स्वार्थ बढ़ाने की जो कोशिश करते हैं उनके कारण झगडे हुए। और यह बहाना लेने वाले दो तरह के लोग हैं। एक राजनैतिक स्वार्थ को लेकर चलते हैं, दूसरे व्यक्तिगत स्वार्थ को लेकर चलते हैं। हर एक रिलीनन में जब कोई व्यवस्था का निर्माण होता है–तो उस समय उसके कई ठेकेदार निर्माण हो जाते हैं, जिसको उपाध्याय कहते है, पुरोहित कहते हैं, ऐसे खडे हो जाते हैं। वे यदि अपना निहित स्वार्थ बना लेते हैं, तो उस निहित स्वार्थ के कारण झगडे खडे होते हैं। हिन्दुस्तान में जो आक्रमक आये – जितने भी आक्रमक आये–सब लोगों के सामने एक समस्या थी। जो आक्रमक आये वे अपने को आक्रमक नहीं कहते थे। वे बडे साधु–सन्त थे, उनको अल्लाह का साक्षात्कार हुआ था, अल्लाह का संदेश यहां पहुंचाने के लिए ही उन्होंने अपनी तलवार निकाली थी, ऐसा नहीं। मोहम्मद गजनबी यहां का सोना और हीरे लूटने आया था वह कोई साक्षात्कारी पुरुष नहीं था। तो जितने लोग आये चाहे तुर्क हो, मुगल हों, पठान हों, अरब हों, चाहे जो आये वे यहां की सम्पत्ति के लालच से आये, यहां शासन चलाने के लालच से आये। लेकिन दूर से आक्रमणकारी जो आते हैं उनके सामने समस्या रहती है–अंग्रेजों के सामने भी रही कि इतने लम्बे-चौडे देश पर थोड़ी संख्या में हम कैसे शासन चला सकते हैं ? अपने देश से लायेंगे तो भी कितने लोगों को लायेंगे ? तो इतना यह विशाल देश है कि जब तक हम यहां अपना गुट, अपने लिए अनुकूल इस तरह का एक गुट तैयार नही करते तब तक यहां शासन चलाना संभव नहीं। और गुट बनाने का एक अच्छा रास्ता है अपना रिलिजन यहां फैलाना। याने अपने रिलिजन के जो लोग हो जायेंगें वो जातिबाह्य माने जायेंगे, बहिष्कृत हो जायेंगे और अपने लिए उनका ही अनुकूल गुट बन सकता है। इस दृष्टि से यहां धर्मान्तरण का प्रयोग हुआ। किन्तु जो धर्मान्तरण कराने वाले राज्यकर्त्ता मुस्लिम थे वे बडे श्रद्धालु मुस्लिम थे ऐसा नहीं दिखाई देता। अंग्रेजों ने यही किया, उन्होंने अपनी इसाईयत यहां फैलाई। आज भी पूर्वांचल में चाहे मेघालय हो, अरुणांचल हो, असम हो, नागालैंड हो, इसाईयत का जो प्रचार चल रहा है वो कोई जीसस का साक्षात्कार कराने के लिए नहीं चल रहा है। बल्कि राजनैतिक स्वार्थ बढ़ाने के लिए इसाईयत का प्रचार चल रहा है। तो जीसस के कारण झगडे नहीं हैं। यहां तक कि जिस पाकिस्तान की निर्मिति हुई है, उस पाकिस्तान के निर्माता बैं० जिन्ना न तो मस्जिद में जाते थे, न कुरान पढ़ते थे। नास्तिक पुरुष थे। और जब उनको यह पता चला कि

इस्लाम का नाम लेने से मेरी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पूर्ण हो सकती है, उस समय उन्होंने इस्लाम का नाम लिया। वरन वे इस्लाम के बारे में कुछ भी आस्था रखने वाले नहीं थे यह बात सब लोग जानते हैं। तो राजनतिक स्वार्थ के लिए इसाईयत या इस्लाम का उपयोग लोगों ने किया। वास्तव में रिलिजन के कारण ये झगड़े हुए ऐसा कोई नहीं कह सकता। रिलिजन के नाम का उपयोग यह राजनैतिक स्वार्थ वालों ने किया।

वैसे ही जिनका निहित स्वार्थ निर्माण हुआ था यानि रिलिजन संस्थागत होने के बाद जो व्यवस्था आई उसमें जिनको प्रमुखता प्राप्त हुई थी यानि उपाध्याय वर्ग चाहे उसको मुल्ला कहा जाय विशप कहा जाय पादरी कहा जाय– इन लोगों ने अपने निहित स्वार्थ के लिए भी झगड़े निर्माण किए यह दुनिया का इतिहास बताता है। आज हमें यह कहा जाता है कि हिन्दू मुस्लिम दंगे होते है। ठीक है यहां हिन्दू भी हैं मुसलमान भी हैं। लेकिन जहां १००% मुसलमान देश हैं वहां दंगे क्यों हुए ?

विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता का जागरण

अफगानिस्तान में प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, जैसे सभी मुस्लिम देशों में वैसे अफगानिस्तान में भी राष्ट्रीयता का भाव जागा। और उनको लगा कि मोहम्मद से पहले भी अपनी अस्मिता एक अलग थी। और इस दृष्टि से यह नया भाव निर्माण हुआ कि हम आर्यन हैं, अपनी कुछ आर्यन संस्कृति है। राष्ट्रीयता का भाव जैसे निर्माण हुआ वैसे ये रिलिजन के ठेकेदार नाराज हो गए और उस नवजागृति का नेतृत्व करने वाले अमीर अमानुल्ला को उन्होंने पदच्युत किया, भागने के लिए बाध्य किया यह इतिहास हम जानते हैं। ईरान में भी जब नवराष्ट्रीयता का जागरण हुआ, तो उस समय जो उनके इस्लामपूर्व वीर पुरुष थे, सोहराब हैं, रुस्तम, जमशेद हैं, बेहराम हैं, उनकी स्मृति का जागरण हुआ। और इस बात का विरोध वहां भी रिलिजन के ठेकेदारों ने किया। यह इतिहास बताता है। इजिप्त में यही प्रक्रिया हुई। तुर्कस्तान में तो और भी विशेष उदाहरण हमें दिखाई देता है। मुस्तफा केमाल पाशा जब आये तो उन्होंने कहा कि हम कुरान को मानते हैं, मस्जिद को मानते हैं, मोहम्मद साहब को मानते हैं, अल्लाह को मानते हैं लेकिन हमारी राष्ट्रीयता की मांग है कि रिलिजन के नाम पर अरेबिक संस्कृति का तुर्की संस्कृति पर आक्रमण बरदास्त नहीं कर सकते। इस दृष्टि से जितना आक्रमण अरेबिक संस्कृति का तुर्की पर हुआ था वह दूर करने के तरह-तरह के उपाय उन्होंने किये। उसमें से एक उपाय यह था कि कुरान का तुर्की भाषा में भाषान्तर। कुरान अरेबिक भाषा में है। उन्होंने कहा कि हम अपनी राष्ट्रभाषा में कुरान का अनुवाद करेंगे। तो ठेकेदार लोगों ने विरोध में आवाज उठाई। कहा कि पाखंड है। केमाल पाशा ने कहा कि यह पाखंड कैसे हो सकता है ? भाई अल्लाह की प्रार्थना ही करनी है न ? क्या अल्लाह अज्ञानी है, अनपढ़ है, कि उसको अरेबिक तो समझ में आती है, परन्तु जो तुर्की भाषा में प्रार्थना करेंगे समझ में नहीं आएगी ? तो तुर्की में अन्होंने अनुवाद करवाया। और एक शुक्रवार ऐसा तय किया कि जिस शुक्रवार को तुर्कस्तान की सभी मस्जिदों में सरकारी आदेश के अनुसार उसी अनुदित कुरान को

पढ़ा जायेगा। तो शुक्रवार को पूरे तुर्कस्तान में दंगे हुए। रक्तपात हुआ। वहां कौन-से हिन्दू मुस्लिम लड़ने गए थे ? सब मुस्लिम हैं १००% मुस्लिम देश है। लेकिन वहां भी दंगे हुए। तो नवजागृत राष्ट्रीय लोग (युवा तुर्क) जो नवजागृत राष्ट्रीय तुर्क थे वे, और जो रिलिजन के ठेकेदार थे उनके अनुयायी- उनके बीच में सारे तुर्कस्तान में दंगे हुए। यह क्या रिलिजनन के कारण हुए ? अपनी निहित स्वार्थ की रक्षा के लिए इस तरह के दंगे कराए गए। जो प्रक्रिया वहां है, वही यहां है। रिलिजन के कारण कभी दंगा वगैरह हो नहीं सकता।

सत्ता का स्वार्थ

हमारे यहां झगड़े संप्रदाय के कारण हुए ऐसा जो लोग कहते हैं उसका कारण है उनका निहित स्वार्थ। यहां दोनों तरह के निहित स्वार्थ हैं, मुसलमानों को अलग करने वाले। एक तो जो ठेकेदार हैं उनका भी निहित स्वार्थ है, और राजनैतिक स्वार्थ तो स्पष्ट है। जैसा मैंने कहा कि परकीय आक्रमकों को चाहे मुसलमान रहे चाहे अंग्रेज रहे अपना गुट यहां निर्माण करना था, अपने राजनैतिक स्वार्थ के लिए रिलिजन का उन्होंने दुरुपयोग किया। वास्तव में वे श्रद्धालु लोग नहीं थे। अंग्रेजों ने तोड़ो और शासन करो के लिए ईसाईयत का यहां प्रचार किया। यह एक दुःख की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जो राजनीतिक पद्धति अपने देश में आयी वह एक विभाजनकारी पद्धति है। केवल प्रादेशिक राष्ट्रवाद पर आधारित होने के कारण यह विभाजनकारी है। और यहां जो जितनी अलगाँव की बात करेगा, उतने उसको वोट ज्यादा मिलेंगे। वोट पाने के लिए देश का क्या होगा इसकी फिक्र न करते हुए, मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग रखने की कोशिश कर रहे हैं। आप साधारण देहात में रहने वाले मुसलमान के पास जाएंगे तो उसके दिमाग में यह कोई चक्कर नहीं। जब तक राजनैतिक नेता वहां जाता नहीं और वोट पाने के लिए उसको हिन्दुओं से अलग नहीं करता और उसके दिमाग में भय निर्माण नहीं करता कि मुझे वोट दो नहीं तो बच्चू तुम सुरक्षित नहीं हो, तब तक साधारण देहाती मुसलमान उकसाया जाने वाला आदमी नहीं। वह भी जानता है कि हम यही के हैं। हमारा कुल-खानदान और हिन्दुओं का कुल-खानदान एक है। सब कुछ जानता है। उसको बिगाड़ने वाले मुगल, तुर्क, पठान थे, फिर अंग्रेज आये और अब राजनैतिक नेता आ गये। और ये राजनैतिक नेता तब तक देश का विभाजन करने वाली बात करते रहेंगे जब तक, या तो आज की राजनीतिक पद्धति बदली नहीं जाती, या आज की पद्धति में जब तक उनको यह भय पैदा नहीं होता कि इस तरह मुसलमानों का वोट प्राप्त करने के लिए यदि हम भेद पैदा करते हैं और मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करते हैं, उन के मन में हिंदुओं के बारे में भय पैदा करते हैं तो उसके कारण मुसलमानों का तो वोट मिलेगा, किन्तु इससे ज्यादा हिन्दुओं के वोट खिसक जाएंगे, तब तक उनकी गन्दी राजनीति का यह खेल चलता रहेगा। याने मूलतः कोई भेद नहीं किन्तु ये जो मन्थरा का काम करने वाले लोग हैं उनके कारण यह विभेद पैदा हुआ है। ये राजनैतिक नेता मन्थरा का काम कर रहे हैं और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर कीचड़ उछाल रहे हैं।

हिन्दु रिलिजन (संप्रदाय) नाम की कोई वस्तु नहीं

आज हमारे यहां राष्ट्र के विषय में जो बात करते हैं वे कहते हैं कि यहां संघर्ष राष्ट्रीयता विरुद्ध साम्प्रदायिकता का है। यह साम्प्रदायिकता क्या चीज है ? ऐसा कहते हैं कि धर्म के कारण साम्प्रदायिकता आती है। हिन्दू धर्म वाले मुसलमान धर्म वालों को तकलीफ देते हैं। मैं इस बात में नहीं जाऊंगा कि कौन किसको तकलीफ देता है। यह छोटी बात है। लेकिन हम यह सोचें कि हिन्दू धर्म के कारण क्या कभी संघर्ष पैदा हो सकता है ? सबसे पहले तो हम एक बात देखें कि हिन्दू नाम का कोई संप्रदाय है क्या ?

विविधता में एकता

यहां सभी पंथ हैं, सभी संप्रदाय हैं। हिन्दुओं के अलग-अलग संप्रदाय हैं, परन्तु हिन्दू संप्रदाय नाम का कोई पदार्थ नहीं। फिर भी हिन्दू यह जानता है कि संप्रदाय क्या है। मनुष्य और अन्तिम सत्य के बीच में जो रिश्ता है उसको संप्रदाय कहा गया है। Relationship between man and his maker. फिर उसको आप कोई भी नाम दीजिए—एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति। तत्व एक ही है, अलग-अलग लोग अलग-अलग नाम से पुकारते हैं। कोई उसको विष्णु कहे, कोई शिव कहे, कोई अल्लाह कहे, कोई स्वर्ग का पिता कहे—मार्क्सिस्ट उसको Matter (जड़ वस्तु) कहेगा। नाम आप कुछ भी दीजिए, अन्तिम तत्व एक ही है। उसी को अलग नाम से पुकारा जाता है। इसलिए अपने यहां कहा गया कि अन्तिम तत्व एक है, गन्तव्य स्थान एक है। वहां तक पहुंचने का हरएक का रास्ता अलग-अलग ही होना चाहिये। क्यों ? क्योंकि हरएक का शारीरिक स्तर, मानसिक स्तर, बौद्धिक स्तर, आत्मिक स्तर, अलग-अलग है। इसके कारण सबके लिए एक रास्ता नहीं हो सकता। सबकी मानसिक भूमिका अलग-अलग हैं। सबके प्रारम्भ स्थान अलग-अलग हैं। और इसके कारण सबके लिए एक संप्रदाय हो नहीं सकता। मान लीजिये कि चार लोग चार स्थान पर खड़े हैं। बम्बई, कलकत्ता मद्रास और दिल्ली। सबको नागपुर पहुंचना है। नागपुर लगभग बीच में है, हिन्दुस्थान के केन्द्र में। तो सबके लिए क्या आप एक दिशा बता सकते हैं ? मान लीजिए कि मद्रास के आदमी को ध्यान में रखकर आपने कहा कि सबको एक ही दिशा लेनी चाहिये, उत्तर की ओर जाने की, तो हो सकता है कि मद्रास वाला तो नागपुर पहुंच जायगा। किन्तु दिल्ली वाला किधर पहुंचेगा ? नागपुर नहीं पहुंचेगा। सबके लिए एक दिशा नहीं हो सकती, क्योंकि हर एक का प्रारम्भ स्थान अलग-अलग है। तो हमारे यहां माना गया कि हरएक का रास्ता अलग हो सकता है, होना चाहिये। उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, रुचि, शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-आत्मिक स्तर, सारा ध्यान में रखते हुए हरएक का अलग—अलग रास्ता होना चाहिए। और इसीलिए शायद ३३ कोट देवता हिन्दुओं के हैं ऐसा बताया गया। उस समय हिन्दुस्थान की जनसंख्या ३३ करोड़ होगी। हर एक का अलग-अलग देवता है ऐसा माना गया। और जब भगवान ने गीता में यह कहा—

ये येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥९॥२३। गीता

जो अन्य देवताओं के भी भक्त हैं वे मेरा ही पूजन कर रहे हैं। तो उन्होंने निश्चित रूप से उनके समय बाकी जितने भी देवता अस्तित्व में होंगे उनकी कल्पना की। वैसे ही उनके पश्चात जितने देवता निर्माण होने वाले होंगे दुनिया में, सबकी कल्पना उन्होंने की। उसको आप अल्लाह कहिए, जहोवा कहिए, कुछ भी कहिए, कितने नाम हैं। तो सभी देवताओं की उन्होंने कल्पना की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है येऽप्यन्य देवता। और इसीलिए हमारे यहां पर एक प्रार्थना है—वह हमारे इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती है। वह त्रैलोक्यनाथ हरि मेरे वांछित फल मुझे दे। कामना पूरी करे। और उस त्रैलोक्यनाथ हरि का वर्णन क्या किया —

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्यायिकाः
अर्हन् इत्यथ जैनशासनरताः कर्मेति वैशेषिकाः
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

"शैव जिसको शिव कहते हैं, वेदान्ती जिसको ब्रह्म कहते हैं, वैशेषिक जिसको कर्म कहते हैं, न्यायिक जिसको कर्ता कहते हैं, बौद्ध जिसको बुद्ध कहते हैं, जैन जिसको अर्हंत कहते हैं वह हरि मेरी कामना पूरी करे।" यह स्पष्ट है कि यदि आज यह निर्माण होता तो शायद कहते कि मुसलमान जिसको अल्लाह कहते हैं, ईसाई जिसको जीजस कहते हैं, यहुदी जिसको यहोवा कहते हैं, वह मेरी कामना पूरी करे। चीज एक ही है, रास्ते अलग-अलग हैं यही इसका अर्थ है। इस दृष्टि से संप्रदाय को यहां व्यक्तिगत बात माना गया है। हर एक का संप्रदाय अलग-अलग होना चाहिए ऐसी अपने यहां कल्पना है, इसके कारण हिन्दू संप्रदाय के लिए झगड़ा करेगा यह हो ही नहीं सकता। हिन्दू संप्रदाय नाम की कोई वस्तु नहीं।

उदाहरण के लिए किराना माल की दूकान लें। शायद इधर परचून की दूकान कहते हैं। अब आप उस दुकान में जाइये। १०/— का नोट दूकानदार को दीजिए, और कहिए कि किराना नाम की वस्तु मुझे १०/— की दीजिए। या परचून नाम की वस्तु १०/— की दीजिए। कोई दुकानदार आपको दे नहीं सकता, क्योंकि वह दूकान तो है परचून या किराने की, लेकिन परचून या किराना नाम की वस्तु नहीं है। तो इस संज्ञा के अन्दर और पचास किस्म की चीजें आ सकती हैं। परन्तु किराना नाम की वस्तु नहीं। हां हिन्दू के अन्तर्गत कई संप्रदाय आते हैं सब संप्रदाय हिन्दू के अन्तर्गत आ सकते हैं। सभी उपासना पद्धति हमारे अन्दर आ सकती हैं। किन्तु हिन्दू नाम का कोई संप्रदाय नहीं। इसके कारण यहां झगड़ा होने की कोई संभावना नहीं। और यही कारण है कि अलग-अलग संप्रदाय के लोगों का यहीं स्वागत हुआ, और कहीं स्वागत नहीं हुआ। सबसे पहले जीजस की मृत्यु के पश्चात् ५५ वें साल में सर थामस यहां आये। उपासना पद्धति के साथ आये। ईसाइयत का पालन करते हुए छोटी सी संख्या में यहां रहे, केरल में। किसी ने उनके ऊपर आक्रमण नहीं किया। फारसी यहां आये, अपनी पूजा पद्धति को सम्हाल कर रहे, किसी ने आक्रमण नहीं किया। और इजरायल ने जो ग्रंथ लिखा है उसमें कहा है कि हर देश में हमारे ऊपर आक्रमण हुआ, लेकिन

हिन्दुस्थान अकेला है जिन्होंने हमारे साइनागॉग पर, हमारे मन्दिर पर, आक्रमण नहीं किया, ऐसा अकेला देश है। यहां पूजा पद्धति के लिए कभी झगड़ा नहीं हुआ।

'हिन्दुराष्ट्र' की कल्पना रिलिजन पर आधारित नहीं

तो इस तरह से राष्ट्र कल्पना जो है वह संप्रदाय पर आधारित नहीं हैं। संप्रदाय के कारण उसमें भेद नहीं आ सकता। हमारे यहाँ यह कल्पना है कि, राष्ट्र एक, संप्रदाय हर एक का अलग-अलग रह सकता है। इसके कारण प० पू० श्री गुरुजी ने बार-बार कहा कि भई आप कुरान पढ़ सकते हैं, मस्जिद में जा सकते हैं, बाईबिल पढ़ सकते हैं, गिरजाघर में ज सकते हैं, लेकिन यह मान लो कि यह राष्ट्र मेरा है। उन्होंने कहा कि, हजारे पूर्वज आपके पूर्वज हैं। यह कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है कि रामचंद्र और कृष्ण हमारे पूर्वज हैं ? जो राष्ट्रीय ग्रन्थ हैं– आप उनको धर्म ग्रन्थ माने या न माने लेकिन वे राष्ट्रीय ग्रन्थ हैं। वेद हैं– वेद को न मानने वाले कई हिन्दू हैं, परन्तु राष्ट्रीय ग्रन्थ के नाते मानते हैं। कोई अमेरिका में रहेगा और कहेगा कि मैं अमेरिका का राष्ट्रीय तो हूं परन्तु जार्ज वाशिंग्टन-जेफरसन– लिंकन को इसलिए नही मानता क्योंकि वे मुसलमान नहीं थे, या हिन्दू नहीं थे, उसको वहां का राष्ट्रीय रहने का अधिकार नहीं रहेगा। रिलिजन के नाते आप कुछ भी रहें– इस्लाम रहें, शैव रहें, वैष्णव रहें, लेकिन अमेरिका में अगर वहां के राष्ट्रीय के रूप में रहना है तो वहां के राष्ट्र को मानना पडेगा। वह चाहे आपके रिलिजन का हो या न हो। वहां के राष्ट्रीय ग्रन्थ को मानना पडेगा। उनकी स्वातंत्र्य की घोषणा है, संविधान है, उसको मानना पडेगा। यह मेरे राष्ट्रग्रन्थ हैं ऐसा कहना पडेगा। जो नहीं कहेगा उसे अमरीकन राष्ट्रीय होने का अधिकार नहीं। वह नियम यहां भी लागू होना चाहिए। रिलिजन के कारण झगडे होते, तो इन्डोनेशिया में जो दृश्य है वह हम न देख पाते। रिलिजन का और झगडों का कोई सम्बन्ध नहीं। इण्डोनेशिया तो हिन्दुस्थान के बाहर है लेकिन उसकी संस्कृति हिन्दू संस्कृति है। और इसके कारण वहां मुस्लिम-बहुल देश होते हुए भी हम देखते हैं कि मुसलमान कुरान पढ़ते हैं, मस्जिद में जाते हैं, परन्तु संस्कृति के नाते रामचन्द्र जी की रामलीला भी करते हैं। महाभारत का भी वहां प्रचार है। विद्यार्थी सुबह वहां नमाज पड़ते हैं, परीक्षा के लिए जाते हैं गणेश जी को नमस्कार करके आशीर्वाद लेकर। दोनों में कोई अन्तर उनको नहीं लगता। यह सामंजस्य भारत में भी चरितार्थ होना हमारे स्वभाव में ही है।

हिन्दु और भारतीय दोनों समानार्थक

आजकल यह बहुत झगड़ा चला है। कुछ राजनैतिक नेता वोटों के लालच में सुझाव दे रहे हैं कि हिन्दू शब्द छोड़ दो। भारतीय शब्द ले लो। दोनों एक ही हैं। समानार्थक हैं। हमने कहा कि हम तो मान सकते हैं कि दोनों समानार्थक हैं, अगर आप कहते हैं और अगर आप ईमानदारी से कह रहे हैं कि हिन्दू और भारतीय दोनों समानार्थक हैं तो फिर 'हिन्दू' क्यों छोड़ दिया जाए ? इसी को रखा जाय। लेकिन बोले कि नहीं, छोड़ना ही अच्छा। हमने कहा कि क्यों अच्छा ? दोनों समानार्थक हैं,

फर्क क्या पडेगा ? तो सीधी बात यह है कि आप ईमानदारी से यह बात नहीं कह रहे हैं कि 'हिन्दू' और 'भारतीय' समानार्थक हैं। आपके मन में हिन्दू का भावार्थ अलग है, भारतीय का अलग है। और आपके कहने के पीछे मन्तव्य यह है कि हिन्दू शब्द छोड़ने के कारण अहिन्दुओं के वोट प्राप्त करने में सहायता होगी। केवल चुनावी राजनीति ध्यान में रखकर आप सत्य सिद्धांत बेचने को तैयार हो। हमने कहा कि रा० स्व. संघ सत्य सिद्धांत को बेचेगा नहीं, क्योंकि हम मतों के याचक नहीं। जो याचक हैं वे अपने मन की नहीं कर सकते। किन्तु हम वोटों के भिखारी नहीं हैं। हम तो अपना सत्य सिद्धांत प्रतिपादित करते रहेंगे बार-बार प्रतिपादित करते रहेंगे। और कोई भी बात सत्य है या असत्य है, इसकी कसौटी मतों की संख्या से नहीं हो सकती। सिद्धांत की शक्ति उसकी सत्यता पर निर्भर है। आप उदाहरण के लिए देखिए। एक समय था कि योरोप के सारे लोग यह मानते थे कि पृथ्वी यह सारे विश्व का केन्द्र है और सूर्य पृथ्वी के चक्कर काटता है। उस समय एक वैज्ञानिक ने कहा कि 'नहीं'। उन्होंने अन्वेषण पूर्वक यह सिद्ध किया कि पृथ्वी विश्व का केन्द्र नहीं, सूर्य विश्व का केन्द्र है और पृथ्वी सूर्य के चक्कर काटती है। सारे योरोप के लोग बौखला उठे। उन्होंने कहा कि यह पाखण्डी है। झूठी बात बोल रहा है। इसको मारना चाहिए। किसी ने कहा कि सूली पर चढ़ाना चाहिए। अब उस समय मतदान होता और कहते कि यह वैज्ञानिक जो कहता है, उसके पक्ष में कितने हैं और विरोध में कितने हैं, तो यूरोप के सारे लोग उसके विरोध में वोट देते, वह एक अकेला रह जाता किन्तु इसके कारण क्या बहुमत की जीत हो गयी ? आज दुनिया किस सिद्धांत को मान रही है ? उस समय यूरोप का बहुमत जिस सिद्धात के विरोध में था उसी सिद्धांत को मान रही है। क्यों कि बहुमत के आधार पर कोई सत्य सिद्ध नहीं हुआ करता-सत्य की अपनी निजी शक्ति हुआ करती है। तो हम जो कह रहे हैं यदि वह सत्य है तो उसकी निजी शक्ति है, वह बहुमत अल्पमत के आधार पर तय नहीं हो सकता। और इसके कारण चुनाव को ध्यान में रखते हुए जैसे चुनाव समझौते हुआ करते हैं वैसा यहां सत्य-सिद्धांत में समझौता नहीं हो सकता।

तो हमने कहा कि हिन्दू-भारतीय एक हैं, तो हिन्दू ही क्यों नहीं कहते ? उन्होंने कहा कि नहीं कुछ लोग नहीं चाहते। हमने कहा कि वे लोग तो संघ को ही कहां चाहते है ? १९२५ से मैं देख रहा हूं कि हमेशा संघ के ऊपर टीका करने वाले लोग रहे। लोगों को खुश करने का हम धंधा उठाएंगे तो संघ को ही बंद करना, यही एक मात्र रास्ता रहेगा। तो लोगों को खुश करना हमारा धंधा नही है। लोगों को संस्कार देना लोगों को सही रास्ते पर लाना। जैसे छोटे बच्चे का होता है—वह समझता नहीं, उसकी हर एक बात आप मानते जाएंगे, उसके कहने के अनुसार करते जाएंगे, तो कहां तक करेंगे। कभी-कभी उसका अनुनय करना पडेगा, कभी उसको चपत भी लगानी पडेगी। लेकिन उसको सत्य रास्ते पर तो लगाना ही पडेगा। तो हम अनुनय करने वालों में से नहीं हैं तुष्टीकरण करने वालों में से नहीं हैं। इतना मुसलमानों के बारे में हमने कहा उसका अर्थ यह नहीं है कि हम मुसलमानों का अनुनय करना चाहते हैं। हम

वोट के भिखारी नही हैं तो हमें तुष्टीकरण करने की आवश्यकता क्या ? हम अपने सिद्धांत, सत्य सिद्धांत का प्रचार करेंगे हमें विश्वास है कि आज नहीं तो कल यह मन्थरा रूपी राजनीतिक नेता दूर हो जाएंगे, ये निष्प्रभ हो जाएंगे। इनकी विश्वसनीयता समाप्त होगी। यहां का मुसलमान समझेगा कि हिन्दू यह शब्द रिलिजन का वाचक नहीं राष्ट्र का वाचक है। केवल इन मंथराओं को कान पकड़ कर दूर करने की आवश्यकता है, और वह भी करेंगे। इतना आत्मविश्वास होने के कारण हम समझौता क्यों करें। समझौते की कोई आवश्यकता नहीं, हम अहिदुन्ओं का अनुनय भी करने वाले नहीं उनको सीधे बताने वाले हैं कि, इस राष्ट्र के आप अंग हैं, इस नाते आप समझेंगे, इसमें सबका कल्याण है।

हिन्दू दृष्टि चराचर के साथ एकात्म

लेकिन मैंने कहा कि आप ये जो हिन्दू और भारतीय कह रहे हैं, आप ऊपर-ऊपर से ही कह रहे हैं। कहते हैं कि हिन्दू याने भारतीय–भारतीय याने हिंदू, तो भी हिंदू शब्द छोड़ने का आपका आग्रह है। हिन्दू शब्द का भावार्थ दूसरा होता है, भारतीय से भिन्न होता है ऐसा आपको लगता है। कहने लगा हां ! थोडा ऐसा ही है। हमने कहा, नहीं, बहुत सा ऐसा है। ये भावार्थ अगर भिन्न है, तो इसकी चर्चा होनी चाहिए कि यह भिन्नता कहां है ? भारतीय कहने से प्रादेशिक राष्ट्रवाद आ जाता है। उसमें सब लोग आ जायेंगे यानि सभी मतदाता। उनका सिद्धांत से संबंध नहीं, वोटों से संबंध है। तो सभी मतदाता 'भारतीय' में आ जायेंगे, हमसे खुश रहेंगे, और हमने हिन्दू कहा तो रूढ़ार्थ में जो हिन्दू हैं वो तो वोट देंगे, किन्तु दूसरों को सारा समझाते तब तक तो चुनाव भी निकल जायेंगे। हम कहां तक समझ येंगे ? समय कहां है ? और इसके लिए समझाने की, सत्य प्रतिपादन की क्यों झंझट करना ? चुनाव जल्द आ रहा है समझौता कर लो। हमने कहा कि आपके मन से हिन्दू का भावार्थ भारतीय से कुछ संकुचित है। हमने कहा कि आप भारतीय को हिन्दू नहीं मानते, क्योंकि भारत को 'प्रादेशिक राष्ट्र' मान रहे हैं। मैं हिन्दू हूं इसके कारण प्रादेशिक राष्ट्रवाद तक सीमित नहीं रह सकता। वास्तव में भारतीय शब्द हिन्दू में समव्याप्त होने में हमारी ओर से कोई आपत्ति नहीं लेकिन आप उसको सीमित रखना चाहते हैं। और मैं सच्चा हिन्दू हूं–हमारे यहां सन्यासी के लिए कहा गया कि 'स्वदेशो भुवनत्रय'। वह किसी एक राष्ट्र का नहीं, सारा 'भुवनत्रय' उसका हो जाता है। वह सारी दुनिया का नागरिक बन जाता है। आपके भारतीयत्व में मैं आता हूं तो मैं दुनिया का नागरिक कैसे बनूंगा ? प्रादेशिक राष्ट्रीयत्व से ऊपर उठकर संपूर्ण चराचर अस्तित्व के साथ मैं एकात्म होना चाहता हूं। आपके राष्ट्रवाद की चौखट में मैं रहा तो चराचर के साथ मैं कैसे एकात्म हो सकता हूं ?

मनुष्य के विकास का क्रम यही हिन्दुत्व

हिन्दू विभिन्न स्तर पर विभिन्न बातों के साथ परिचित हैं। एक स्तर पर व्यक्ति के साथ एकात्म है, एक स्तर पर परिवार के साथ, एक स्तर पर राष्ट्र के साथ,

एक स्तर पर मानवता के साथ, एक स्तर पर चराचर विश्व के साथ वह एकात्म है। यह मनुष्य के जागृति के विकास का क्रम अर्थात हिन्दुत्व है । आप हमारे विकास का क्रम रोक देंगे, हमको कहेंगे कि सन्यास मत लेना। मानव जाति का एक सदस्य मत बनना। चराचर अस्तित्व के साथ एकात्म मत बनना। क्योंकि मेरे वोट निकल जायेंगे। यह कैसे हो सकता है ? तो प्रादेशिक राष्ट्रवाद के चौखट में हिन्दू बैठ नहीं सकता। हां, यह बात ठीक है कि जागृति के विकास का जो क्रम है वह पृथक नहीं, (Inclusive) समावेशक है। पृथक का मतलब होता है कि यदि मैं परिवार के साथ एकात्म हूं तो मेरा अपने से प्रेम नहीं। मैं समाज के साथ प्रेम करता हूं तो परिवार से घृणा करता हूं। यह कल्पना नहीं है। समावेशक है माने जब मेरी जागृति का विकास परिवार तक होता है तो मैं परिवार से प्रेम करता हूं, अपने से भी करता हूं। समाज से भी प्रेम करता हूं। मानव जाति से प्रेम करता हूं, तो राष्ट्र से भी प्रेम करता हूं। चराचर विश्व के साथ एकात्म हूं तो राष्ट्र के साथ भी एकात्म हूं । यह तो ऐसे विकास का क्रम है जैसे बीज, अंकुर, पौधा, शाखा, उसके पत्ते, फूल और फल होते हैं। यह विकास का क्रम एक दूसरे के खिलाफ नहीं है। अब यह विकास का समावेशक क्रम आपके प्रादेशिक राष्ट्रवाद के भ्रम में आपको रोकने का क्या अधिकार है ? तो हिन्दू और भारतीय यदि एक है तो हिन्दू ही रखा जाए। और यदि भावार्थ में अन्तर है तो वह नहीं है जो आप समझते हैं। हिन्दू संकीर्ण है, भारतीय विस्तृत है, यह मानना ठीक नहीं। भावार्थ यह है कि हिन्दू अति विस्तृत है सबका समावेश कर लेने वाला है। फिर हमें भारतीय शब्द लेकर हिन्दू शब्द छोड़ने की क्या आवश्यकता है ?

अब यह सारा विचार एक साथ तो हर एक के समझ में आना सम्भव नहीं। अतएव सम्पूर्ण दर्शन दृष्टि के सामने होते हुए भी उस का परिचय एवं अनुभूति पात्रता के अनुसार क्रमशः देना अत्यावश्यक होता है, जिसे प्रगमनशील विकास (Progressive unfoldment) कहा जाता है। मूलतत्व, मूल कल्पना की नींव सुदृढ रखते हुए क्रमशः अधिकाधिक स्पष्ट होनेवाला उस का आविष्कार, यही स्वाभाविक एवं शास्त्रीय प्रक्रिया है।

जैसे पौ फटने के पूर्व खिड़की से सामने का पेड़ धुन्धला सा नजर आता है। पेड दिखता है, किन्तु अस्पष्ट सा। घंटे भर के बाद वही पेड़ अधिक स्पष्ट दिखने लगता है, और कुछ समय बाद वह अपनी सभी विशिष्टताओं के साथ पूरी तरह स्पष्ट दिखने लगता है। जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से कार्य करना है, उन्हें इसी प्रक्रिया से अपनी बातें दूसरों को समझाना पडेगीं। जिन्हें निर्माण का कार्य करना है, उन्हें सम्पूर्ण सत्य जानते हुए भी, विवेक के साथ स्थान, समय, मात्रा आदि का विचार करते हुए अपनी बातें दूसरों को बताना होंगी। संघ जैसे संगठन कार्य में "हिन्दु" "हिन्दुराष्ट्र" आदि सिद्धांतों का अविष्कार इसी प्रकार प्रगमनशीलता से विकसित होता आया है, जो कार्य की दृष्टि से अत्यन्त उचित ही है। सम्पूर्ण धारणा प्रारम्भ से ही स्पष्ट होते हुए भी, कार्यकर्ताओं के विकास एवं क्षमता के साथ-साथ वह अधिकाधिक विस्तार से एवं गहराई से क्रमशः

समझायी गयी। पूजनीय डॉक्टर जी, श्री गुरुजी, तथा अपने अन्य विचारक इसी प्रकार इस विषय की व्यापकता क्रमशः अधिकाधिक स्पष्टता से समझाते गये हैं। जितनी अपनी क्षमता एवं शक्ति बढेगी, उतनी ही ये बातें अधिकाधिक व्यापकता से हम समाज के सम्मुख रख सकेंगें।

आज संकुचित दायरे में विचार करने वाला व्यक्ति 'राष्ट्र' कल्पना तक अपनी व्यापकता बढ़ाने के लिये जागृत हो, यही अपना कार्य हैं, जो हमारी "हिन्दुराष्ट्र" की विशुद्ध शास्त्रीय भूमिका को मूर्त स्वरूप देने के मार्ग पर एक आवश्यक पाथेय है। जब हम शक्तिशाली थे, "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की धारणा लेकर संसार भर में पहुंच चुके थे। आज अपनी क्षमता एवं संगठन विकसित होने पर, उसी 'विश्वगुरु' के स्थान पर भारत माता को पुनर्स्थापित करना अवश्य सम्भव होगा।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार

किसी ने ऐसा कहा है कि रोग का सही निदान होना ही रोग का आधा ठीक होना है। अतः हमारे समक्ष जो विभिन्न समस्याएं हैं, पहले उनका निदान कर लिया जाए। इसके बाद इन समस्याओं को हल करने के लिए उपाय–योजना का विचार किया जा सकता है।

आज हमारे सामने अनेक समस्याएं हैं। मुख्य समस्या यह है कि हम अपने राष्ट्र का पुनर्निर्माण कैसे करें ? आज अपना राष्ट्र जिस स्थिति में है, वहां से उसे अच्छी अवस्था तक हमें पहुंचाना है।

मन में सर्वप्रथम यह विचार आता है कि क्या हमारे समक्ष किसी ऐसे देश का माडल–चित्र है कि जिस देश के वासियों ने अपने राष्ट्र का निर्माण किया है, जिसके लोग सुखी और समृद्ध हो गये हैं। यदि हमारे सामने ऐसा कोई माडल हो तो बहुत अच्छा होगा। इस दृष्टि से हम भिन्न–भिन्न माडलों का विचार करें। आज की दुनिया के बड़े, समृद्ध और अग्रसर राष्ट्रों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं। इनमें अमेरिका तथा रूस का नाम आता है। आजकल चीन का नाम भी इसी श्रेणी में आने लगा है। ऐसे कुछ देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं। यदि एक बार हमें ऐसा पता चल जाय कि अमुक देश की नकल करने से हमारा कल्याण होगा तो फिर हमारी उलझन या समस्या सुलझ सकती है।

अमेरिका का संकट

क्या इनमें से कोई राष्ट्र ऐसा है जो सुख की प्राप्ति कर चुका है या कर रहा है ? इसका विचार करने पर हमारे सामने विचित्र बातें आती हैं। इनमें सबसे धनी राष्ट्र अमेरिका है। इस दृष्टि से सबसे सुखी राष्ट्र भी वही होना चाहिए। किन्तु वहां जितनी अधिक प्रगति है उतना ही वहां सुख का अभाव है। यह खटकने वाली बात है। एक और बहुत प्रगति है। उनकी टेक्नोलोजी (तकनीकी ज्ञान) बहुत बढ़ गयी है। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि अब थोड़े ही समय बाद वहां सारा काम यंत्रों से ही होगा। वे प्रगति की ओर यहां तक जा रहे हैं कि प्रजा निर्माण का कार्य भी मनुष्य के बिना ही वहां हो सकेगा, अर्थात् सब बातें यंत्रों के सहारे होंगी। वे चंद्रमा पर भी पहुंच गये हैं। इसके विपरीत विगत वर्षों के कुछ आंकडों के अनुसार सबसे अधिक आत्महत्यायें अमेरीका में हुई। सबसे अधिक पागलपन का परिमाण भी वहीं है। न्यूरस्थेनिया नामक स्नायुदोष (Nervous disorder) भी सबसे अधिक वहीं होता है। रक्तचाप और हृदय–रोग भी वहीं सर्वाधिक होते रहते हैं। अपराध करने की प्रवृत्तियां भी वहीं हैं। एक ओर तो प्र ति हो रही है और दूसरी ओर ये सब बातें

हैं। इस प्रकार यद्यपि अमेरीका धनी और तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्र हैं, तो भी वहाँ समाज में सुख का अभाव है।

वर्तमान असंतोष

सबसे अधिक असंतोष भी वहीं दिखाई देता है। अपने यहां होने वाले विश्वविद्यालयों की गड़बड़ के कारण हम दुःखी हैं। किन्तु वहां तो इससे भी अधिक गड़बड़ियां हुई हैं। वहां स्टेनगन आदि हाथ में लेकर लोगों ने विद्रोह किए हैं। अमेरिका की नई पीढ़ी यह घोषित कर रही है कि वह वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट है। मेरे एक मित्र अमेरीका गये थे। वे वहां के विद्यार्थी नेताओं से मिले। इन्होंने उनसे पूछा कि आप क्या चाहते हैं? तो उन्होंने कहा कि हम चाहते हैं वर्तमान व्यवस्था नष्ट होनी चाहिए, कन्ज्यूमर सोसायटी समाप्त होनी चाहिए। तब इन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा "आप किस प्रकार का समाज चाहते हैं? कृपया यह जरा बताइए।" तो उन विद्यार्थी नेताओं ने कहा "हम यह तो नहीं बता सकते कि किस प्रकार का समाज चाहते हैं, इसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं है। लेकिन वर्तमान कन्ज्यूमर सोसायटी नष्ट होनी चाहिए, हम तो इतना ही जानते हैं।" अब ये दोनों विरोधी बातें हमारे सामने हैं कि एक ओर अमेरिकी लोग चन्द्रमा पर आक्रमण कर रहे हैं और दूसरी ओर उन के समाज के मन में असंतोष है, विद्रोह की भावना है।

आजकल का यह 'हिप्पी-कल्ट' तो एक प्रकार से अमेरीका के मानसिक असंतोष का बैरोमीटर ही है। हमारे यहां भी ये हिप्पी आ रहे हैं। क्या इनके सारे असंतोष का कारण भौतिक अभाव है? अपने देश में खाने पीने को पूरा नहीं मिलता, इसलिये अपने देश में तो हम समझते हैं कि सभी असंतोष का कराण भौतिक अभाव है। यहां हमारी समस्याएं 'निर्धनता' की हैं और प्रतीत होता है कि अमेरीका की समस्याएं 'विपुल सम्पन्नता' की हैं। वहां भी असंतोष है, उनकी भी समस्याएं हैं। हिप्पी लोग गरीबी के कारण यहां नहीं आ रहे हैं। बड़े-बड़े धनी सम्पन्न लोगों के लड़के भी इन हिप्पियों में होते हैं। वर्तमान व्यवस्था से उनको संतोष नहीं है। अमेरीका में हमको यह बात दिखाई देती है।

कम्युनिस्टों की स्थिति

अब नम्बर दो का देश 'रूस' हमारे सामने आता है। आजकल वह हमारा मित्र भी बन गया है। इसलिए वहां की परिस्थिति के बारे में हमारे यहां बहुत कुछ जानकारी है। वहां भी कोई सुख-समाधान है, ऐसा नहीं दिखता। इसके लिए कोई बहुत विस्तृत विवरण की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम इतना जानते है कि १९१७ में रूस ने जो एक नया प्रयोग शुरू किया, जो सिद्धांत सामने रखे और जो घोषणाएं की, उनमें से हर एक में वे निरन्तर परिवर्तन लाते जा रहे हैं। इस विषय में संक्षेप में ही थोड़ा-सा संकेत करना पर्याप्त होगा।

उदाहरण के लिए उन्होंने कहा था कि निजी सम्पत्ति नहीं रहेगी (No private property) किन्तु अब रूस में निजी संपत्ति आ गई है, और वह बढ़ती जा रही है। रूस के संविधान की धारा क्रमांक १० में यह लिखा है कि किन विशेष परिस्थितियों में

निजी संपत्ति का अधिकार रहेगा। वह संपत्ति उत्तराधिकार में भी प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार रूस में निजी सम्पत्ति आई भी है और बढ़ने भी लगी है।

उन्होंने कहा था कि हम सबको समान मानेंगे। लेकिन वहां सबको समान पैसा नहीं मिल रहा है। नवीनतम उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार इसमें कम से कम और अधिक से अधिक आय का अन्तर १ और ८० के अनुपात का है जबकि पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका में कम से कम और अधिक से अधिक आय का नवीनतम आंकड़ा १:१५ के अनुपात का है। रूस में यह असमानता और भी बढ़ती जा रही है। चीन जो रूस को गाली देता है, उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि (To each according to his need) 'हरएक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' के शास्त्रीय समाजवाद के घोषित सिद्धांत को रूस ने छोड़ दिया, और अब वहां 'हर एक को उसकी योग्यता और उत्पादन इत्यादि के अनुसार' दिया जाता है न कि उसकी आवश्यकता के अनुसार। यह समाजवाद के साथ गद्दारी है। यह सबसे प्रमुख गाली है जो इस को चीन ने दी है।

यह कहा गया था कि वर्ग विहीन समाज की रचना होगी। किसी भी साम्यवाद देश में चाहे वह रूस हो या कोई और, वर्ग–विहीन समाज की रचना नहीं हुई। श्री जिलास ने अपनी 'The New Class' नामक पुस्तक में बताया है कि वहां पुराने वर्ग तो समाप्त हुए किंतु नये वर्गों का निर्माण हुआ है। ये नये वर्ग हैं शासक और शासित। ये वर्ग बहुत अधिक सजीव और सक्रिय हैं। स्पष्ट है कि वर्ग नष्ट नहीं हुए।

यह भी कहा गया था कि परिवार एक बुर्ज्वा संगठन है, इसे नष्ट करेंगे और कम्यूनों की स्थापना करेंगे। रूस में तो ये कम्यून असफल हो गये। परिवार संगठन वहां आया है और पूरी तरह आया है। आज पारिवारिक संरचना रूस में चल रही है।

उनका कहना था कि हम राष्ट्रवाद को नहीं मानते। किन्तु सब लोग जानते हैं कि पिछले महायुद्ध के समय रूस में राष्ट्रीयता के आधार पर ही लोगों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया गया। तब से अब तक न केवल रूस में अपितु सभी साम्यवादी देशों में राष्ट्रवाद बहुत प्रबल हुआ है। यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की तुलना में राष्ट्रवाद के अधिक प्रबल होने के कारण साम्यवादी देश एक दूसरे के साथ लड़ रहे हैं। चीन और रूस का संघर्ष भी वास्तव में राष्ट्रीय–विस्तार का ही संघर्ष है। ऐसे और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

फिर यह कहा गया था कि लाभ–हेतु, मांग–पूर्ति तथा प्रतियोगिता-ये तीनों पूंजीवादी प्रवृत्तियां (Capitalistic characteristics) हैं किन्तु आज लाभ का उद्देश्य और प्रतियोगिता (Competetion) दोनों का प्रवेश रूस में हुआ है। मांग एवं पूर्ति के पूंजीवादी सिद्धांत (Law of demand and supply) का भी प्रवेश हुआ है।

इस प्रकार रूस एक–एक घोषित बात से पीछे हटता जा रहा है।

रूस में भी सुख का अभाव

इतना होने के बाद भी कुल मिलाकर रूसी जनता में बड़ा सुख है या बड़ी शान्ति है, इस प्रकार का अनुभव नहीं आया। उनकी भी तकनीकी प्रगति हो रही है।

एक ओर तो वे चन्द्रमा तक पहुंच गये हैं, और दूसरी ओर वे यहां तक अभावग्रस्त है कि स्वयं अपने लोगों को खिलाने के लिए पर्याप्त अनाज भी उत्पन्न नहीं कर सकते। उनको पूंजीवादी देशों से अनाज लाना पड़ रहा है। यदि वास्तव में रूस की अवस्था देखी जाय तो अनेक गणराज्यों तथा गैर–रूसी व अश्वेत–रूसी लोगों में आज पर्याप्त असंतोष है। वहां भी रूसीकरण के द्वारा शोषण चल रहा है। यह दशा स्पष्टतः अश्वेत रूसी लोगों की है। जो भी रूस में जाकर आयेगा, उनको सामान्य अवलोकन से ही यह बात ध्यान में आ सकती है।

अनुकरण में कठिनाई

यदि हमें अनुकरण ही करना है तो ऐसे लोगों का ही करना चाहिए कि जिनका अनुकरण करने से कुछ लाभ हो। नहीं तो 'गुनाह बेलज्जत' जैसी बात हो जाएगी। हमारे सामने ऐसा कोई माडल (ढांचा) आ जाता तो बहुत अच्छा हो जाता कि जो चीज हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह किसी अन्य ने भी प्राप्त की है अतः अब यदि उसका अनुकरण करेंगे तो हम भी अभीष्ट प्राप्त कर सकेंगे। आज स्थिति यह है कि रूस का अनुकरण तो साम्यवादी देश भी नहीं कर रहे हैं। रूस की औद्योगिक व्यवस्था का यथावत् अनुकरण उसके अधीन काम करने वाले चैकोस्लोवाकिया, हंगेरी आदि देश भी नहीं कर रहे। बाकी सब व्यवस्था में भी वे रूस से मार्गान्तरण (Deviation) करते जा रहे हैं और जब रूस ने इन सब साम्यवादी देशों को कहा कि आप लोगों को हमारा ढांचा ही लेना चाहिए, तो उन देशों ने इन्कार किया और कहा—हम आपसे साम्यवाद तो अवश्य ले रहे हैं लेकिन हमें अपनी संस्कृति और परम्पराओं में ढाल कर ही लेना पडेगा, नहीं तो हमारा काम नहीं बनेगा। हर एक ने अपना–अपना माडल (ढांचा) खड़ा करने की कोशिश की। यदि यूरोप के सभी साम्यवादी देश जो सीधे रूस के प्रभाव में हैं, वे भी ऐसा अनुभव नहीं कर रहे कि हम रूसी माडल के द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं, तो बाकी देश उसके द्वारा कहां तक अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकेंगे—यह एक विचारणीय प्रश्न है।

चीन का उदाहरण

हमारे सामने चीन का भी एक उदाहरण है। चीन में भी व्यापक असंतोष है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर करोड़ों लोग मारे गये हैं। ऐसी कितनी ही बातें हम लोग देख रहे हैं। वहां निरन्तर असंतोष है। यह कहा गया है कि इंकलाब जिन्दा बाद (Long live revolution)। रिवोल्यूशन यानी परिवर्तन। अर्थात् अभी वहां स्थायित्व (Stability) नहीं आ रही है। निरन्तर परिवर्तन की ही बातें चल रही हैं, ऐसा दिखाई देता है। सांस्कृतिक क्रांति का माओ का समर्थन यदि सही भी मान लिया जाय तो भी उसकी आवश्यकता, विद्यमान चीनी रचना की विफलता का ही परिचय देती है।

इस तरह जहां भी हम देखते हैं, वहां ऐसा कोई ढांचा हमारे सामने नहीं दिखता। आखिर हमें अनुकरण ही करना हैं, किसी न किसी का शिष्य ही बनना है, तो फिर किसी ऐसे ही देश का या ऐसी ही विचारधारा का शिष्य बनना चाहिए, जिसके

कारण भविष्य में हमारा लाभ हो। अन्यथा होगा यह कि हम दूसरे का शिष्यत्व भी ले लेंगे, मानसिक दासता भी स्वीकार करेंगे और जिसके लिये यह स्वीकार करेंगे वह भी प्राप्त नहीं होगा। ऐसी गलती नहीं होनी चाहिये।

हमारी गिरावट

अब हम स्वयं अपने बारे में विचार करें। आज ऐसा दिखाई देता है कि हमारी परिस्थिति बहुत ही खराब है। हम एक पिछडे हुए राष्ट्र हैं। इसके कारण हमारे मन में हीनता का भाव निर्माण हो सकता है। हमारी जो जो चीजें हैं–धर्म है, संस्कृति है, परम्परा है–वे यदि अच्छी होतीं तो हमारी ऐसी गिरावट क्यों हो जाती? अर्थात जो कुछ भी हमारा वह सब बुरा है, यदि ऐसा मन में आता है, तब तो और भी अंधेरा है। यानी हमारी परम्परा में कुछ अच्छा है ही नहीं और पराया कोई माडल भी हमारे सामने नहीं है–ऐसी परिस्थिति में हम अगला रास्ता कैसे देख सकते हैं।

लेकिन कुछ विचित्र बातें होती हैं। मैंने कई उदाहरण बताये हैं, जिनमें परस्पर विरोधी बातें हैं। जैसे रूस द्वारा एक ओर चन्द्रमा पर पहुंचना और दूसरी ओर अपने लिए पर्याप्त अनाज उत्पन्न न कर सकना। अमेरीका द्वारा एक ओर चन्द्रमा पर पहुंचना और दूसरी ओर वहां विद्यार्थियों द्वारा विद्रोह का झंडा गाड़ना। यह जिस प्रकार से परस्पर विरोधी बातें हैं, वैसे ही कुछ अन्तर्विरोध अपने यहां भी है। हमारी गई बीती परम्पराओं और आज की आकांक्षाओं का यदि विचार किया जाये, तो ऐसा ही विरोधाभास उसमें भी दिखाई देता है।

मनुष्य की एक उत्कट इच्छा होती है कि हरएक व्यक्ति का विकास होना चाहिए। यह विकास कैसे होगा? अपने यहां सोचा गया कि हर व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। जहां प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायरा समाप्त होता है, वहां सस्कृति का दायरा प्रारम्भ होता है। अतः सबसे पहले प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। उसके बाद संस्कृति का क्षेत्र शुरू होता है।

लेकिन 'हरएक व्यक्ति का विकास' हरएक को ऐसा काम देने से होगा जो काम उसके लिए उचित यानी उसकी प्रकृति–प्रवृत्ति के लिए अनुकूल हो। इस तरह का काम करने से उसको उसी में आनन्द आयेगा और फिर काम और आराम दोनों उसके लिए एक हो जावेंगे। इसके कारण उसका काम भी अधिक अच्छा होगा। काम की गुणात्मकता भी अधिक अच्छी होगी और निष्पन्न काम की मात्रा भी अधिक होगी। वह व्यक्ति श्रेष्ठतम उत्पादन या सेवा दे सकेगा और यदि वह इस प्रकार की सेवा या उत्पादन को राष्ट्रपुरुष के चरणों पर समर्पित करता है तो वह उसका राष्ट्रपुरुष के लिए सर्वोत्कृष्ट संभव योगदान (Highest possible contribution) कहा जायगा। एक ओर वह राष्ट्र–पुरुष के चरणों पर अपना 'सर्वोत्कृष्ट संभव योगदान' अर्पित करेगा और दूसरी ओर उसका स्वयं का विकास होगा। उसकी रुचि, प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार उसका विकास होगा। एक ओर व्यक्ति का विकास और दूसरी ओर राष्ट्र को अधिक से अधिक उत्पादन व सेवायें प्राप्त होंगी ये दोनों बातें संभव

हो सकेंगी। व्यक्ति का विकास इस तरह होना चाहिए, यह एक बात अपने यहां सोची गई है।

अंगांगी–भाव का विचार पश्चिमी देशों की दृष्टि में पुराना एवं त्याज्य हो गया है। यह आधुनिक या प्रगतिशील विचार नहीं है। हर व्यक्ति सुखी होना चाहिए, यही आधुनिक विचार है। अन्य कुछ नहीं। यही एक बात पश्चिम के लोग जानते हैं। वहां तो व्यक्ति प्रधान है। जो कुछ भी है वह सब व्यक्ति के लिए है। समाज इत्यादि सब व्यक्ति के लिए है। फिर समाज का स्थान क्या है ?

व्यक्ति और समाज : अंगांगीभाव

किन्तु यह भी अपने यहां सोचा गया कि व्यक्ति अपने को केवल एक मौलिक इकाई न समझे। सम्पूर्ण समाज के बारे में हमारे यहां एक धारणा है कि यह सपूर्ण समाज एक शरीर के समान है। और हर व्यक्ति या व्यक्तिसमूह इसके अंग–प्रत्यंग के रूप में है। हम लोग अपने संघ में इसका वर्णन बहुत बार सुनते हैं। मैं और मेरा समाज का पारस्परिक सबंध अंग और अंगी अर्थात् अवयव और शरीर के सम्बन्ध जैसा है। और इसलिए हम राष्ट्रांगभूत हैं। हम अलग–अलग नहीं हैं। इस एकात्मता की भावना के कारण एक ओर अपना विकास होता है और दूसरी ओर उसके उच्चतम और श्रेष्ठतम फल को हम राष्ट्रपुरुष के चरणों पर समर्पित करते हैं। इस प्रकार सबके मन में राष्ट्र के विषय में अंगांगीभाव होता है। इसमें हरएक के व्यक्तिगत विकास के साथ और राष्ट्र के विकास का समन्वय होता है। यह बात हमारे यहां कही गई है। हर व्यक्ति का पूरा विकास हो। हर व्यक्ति के मन में राष्ट्र–समर्पण का भाव रहे। सम्पूर्ण समाज की रचना ऐसी रहे कि जिसमें हर व्यक्ति का पूरा विकास होने के लिए पूरा अवसर रहे। और जहां हर व्यक्ति का पूरा विकास हो रहा है, वहां ऐसा न हो कि एक का विकास दूसरे के विकास के मार्ग में बाधा के रूप में आ जाये। एक के आगे बढ़ने का परिणाम दूसरे के पीछे धकेले जाने में न निकले। सम्पूर्ण समाज की सम्यक् धारणा हो और हर एक व्यक्ति का पूर्ण विकास हो, इन दोनों बातों का समन्वय होना चाहिए। ऐसा विचार अपने यहां था।

हम ही भाग्यविधाता

अब अपने को पुनः राष्ट्र निर्माण करने का अवसर मिला है। खंडित भारत का हो क्यों न हो, किन्तु राज्य अब अपने हाथ में आ गया है। हम स्वयं ही अपने भाग्य-विधाता हो सकते हैं। तो अब यहां कैसी रचना की जाय, यह प्रश्न हमारे सामने है।

माडल उपलब्ध नहीं

यदि किसी का माडल (ढांचा) देखकर हम अपनी रचना कर सकते हैं तो काम बड़ा आसान हो जाता है। अब माडल के लिये आज के नम्बर एक और नम्बर दो के राष्ट्रों का विचार हमने किया। दुःख की बात यह है कि वे आकाश में चन्द्रमा पर तो जा पहुंचे हैं, लेकिन अपने विश्वविद्यालयों में असंतोष के विद्रोह को वे नहीं रोक सके, लोगों का हिप्पी बनना नहीं रोक सके। साम्यवाद एवं अराजकतावाद का भी

हमने विचार किया। लेकिन संतोष वहां भी दिखाई नहीं देता। अपने सिद्धान्त से पीछे और अधिक पीछे ही हटने की प्रवृत्ति हम वहां भी देख रहे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अपने लिये कोई तैयार मॉडल हमारे सामने उपस्थित नहीं हो सकता—क्योंकि वहां समानता वर्ग–विहीनता या शासन विहीनता के आदर्श सफल नहीं हुए हैं

गिरावट का कारण

पश्चिम के 'प्रगतिशील' लोगों ने जो कुछ आदर्श अपने सामने रखे, उनको वे चरितार्थ नहीं कर सके किन्तु उनको चरितार्थ करके दिखाने का काम हमारे समाज ने कभी किया है, यह भी हम देख सकते हैं। और इसके कारण हमारे मन में एक संदेह निर्माण हो सकता है कि हमारी जो गिरावट है वह हमारी परम्परा, धर्म, संस्कृति के कारण है या उनको छोड़ने के कारण है ? हमारे अन्दर कुछ विकृतियां आ गईं। विकृतियां आने का खास कारण रहा। हम सब जानते हैं कि बारह सौ वर्ष तक हम युद्धस्थिति में थे। विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सम्पूर्ण देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक निरंतर हम युद्धरत रहे। युद्ध-काल में वे सभी बातें नहीं हो सकतीं, जो सामान्य शांतिकाल में होती हैं। इसके कारण समाज में कुछ विकृतियां आ गई हैं। इन विकृतियों के कारण हमारी गिरावट हुई है। यदि ऐसा है तो विकृतियों को दूर करते हुए, अपनी मूल बात को हृदय में धारण करते हुए, क्या हम आगे नहीं बढ़ सकते ?

पूरा विचार कर निर्णय लें

इस दृष्टि से हमें पूर्ण विचार करना होगा। संसार के सभी वादों (Isms) का अध्ययन हम करें और अपनी भी संस्कृति परंपरा का चिंतन करें। अध्ययन सभी पद्धतियों का होना चाहिए। किन्तु किसी का भी अंधानुकरण करना हमारे हित में नहीं सनातन काल से राष्ट्र-रचना का आधार बना हुआ 'धर्म' भी हमारे गहन चिंतन का विषय बने, यह आवश्यक है। इन सब बातों की पृष्ठभूमि पर हम अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के विषय में राष्ट्रीय प्रतिभा के आधार पर निर्णय लें, यह उचित होगा।

कम्यूनिज्मः अपनी ही कसौटी पर

आज कल जिसकी चारों ओर बहुत चर्चा चलती है, ऐसा एक वाद यानी 'इज्म' है— कम्यूनिज्म. इसका मूल्यांकन आज किस तरह हो सकता है, यही विचार के लिए विषय है. कम्यूनिज्म क्या है, वह सही है या गलत है, यह विषय विचार के लिए नहीं है. हिंदू मापदण्ड से कम्यूनिज्म का मूल्यांकन क्या होता है, यह भी विचार के लिए विषय नहीं है. बल्कि कम्युनिस्टों ने जो अपने पैमाने दिए हैं, यानी उनकी ही जो कसौटियां हैं, उन पर कम्युनिज्म कहां तक पूरा और खरा उतरता है, उसका आज का मूल्यांकन क्या है, यहां हम इस पर विचार करेंगे।

मार्क्स की भविष्यवाणियां

इस विषय पर हम लोग कुछ बातें तो जानते हैं, और उन्हें लोगों ने स्वीकार भी किया है. इस 'इज्म' के प्रमुख प्रणेता कार्लमार्क्स ने जो भी भविष्यवाणियां की थीं उनमें से कई गलत निकली. यहां तक कि प्रमुख भविष्यवाणियां भी गलत निकली हैं. (१) जैसे उन्होंने कहा था कि उस देश में सर्वप्रथम कम्युनिस्ट क्रांति होगी, जो देश अधिक औद्योगिक है,, जहां औद्योगिकरण अधिक हुआ है और इस कारण जहाँ औद्योगिक मजदूरों की संख्या बहुत ज्यादा है। इस दृष्टि से उन्होंने तीन देशों के नाम लिए थे—जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन और अमरीका. पर क्रांति इन देशों में नहीं हुई। इसके विपरीत रूस और चीन जैसे देश जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, क्रांति वहां हुई. इस तरह हम देखते हैं कि पहले क्रांति कहां होगी इस विषय में जो भविष्यवाणी मार्क्स ने की थी, वह गलत निकली।

(२) इसी प्रकार ट्रेड यूनियन आन्दोलन और सहकारी आंदोलन के विषय में उन्होंने जो अंदाज लगाये थे वे भी गलत निकले. उन्होंने सोचा था कि ये दोनों आंदोलन बहुत ज्यादा देर तक ठीक ढंग से नहीं चलेंगे. उन्होंने सोचा था कि ट्रेड यूनियन और सहकारिता दोनों समाप्त हो जायेंगे. पर यह सब नहीं हुआ. इस प्रकार उन दोनों के बारे में, उनकी शक्ति के विषय में, उनका जो अनुमान था वह भी गलत निकला है।

(३) वैसे ही पाश्चात्य संसदीय लोकतंत्र की जो संस्थाएं हैं उनके बारे में भी उनका अंदाजा गलत निकला उन्होंने कहा था कि ये जो संस्थाएं है वे तो पूंजीवादी लोगों के साधन मात्र हैं, उनका दुरुपयोग करते हुए पूंजीवादी अपनी सत्ता को मजबूत बनायेंगे. ये संस्थाएं ज्यादा समय तक टिकने वाली नहीं हैं. इनकी उपयोगिता ज्यादा नहीं है. परन्तु उनका यह विचार भी गलत निकला

(४) पूंजीवाद का स्वरूप कैसा रहेगा ? जहां पूंजीवादी व्यवस्था आई है उस देश की संरचना कैसी होगी, इस सम्बन्ध में उन्होंने जो अनुमान लगाए वे गलत निकले।

अमरीका में भी पूंजीवाद का स्वरूप वैसा नहीं है, जैसा मार्क्स ने कहा था। पूंजीवाद के स्वरूप भिन्न होने के कई कारण हैं, उनमें से एक कारण वह आंदोलन भी है जो स्वयं मार्क्स के प्रतिपादित सिद्धांतों के कारण निर्माण हुआ।

(५) मध्यम वर्ग के बारे में उन्होंने कहा था कि यह वर्ग तो रहेगा ही नहीं। थोड़े से लोग तो उच्च वर्ग में चले जायेंगे और शेष श्रमिक वर्ग में आ जायेंगे। पर आज उल्टा हो रहा है। जगह-जगह मध्यम वर्ग न केवल जीवित है, बल्कि पहले से अधिक प्रबल और वर्धमान है—यह हर जगह दिखाई देता है।

मार्क्स का वैश्विक दर्शन

अब एक दूसरी बात यह है कि मार्क्स ने जो सिद्धांत दिए उन सबका आधार अधिष्ठान वैश्विक दर्शन है, जिसे अंग्रेजी में कॉस्मोलॉजी कहते हैं। यह जो सारा अस्तित्व है, (उसे आप सृष्टि कहिए, विश्व कहिए, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड कहिए परन्तु सब मिलाकर यह जो अस्तित्व है), उसके विषय में जो नियम हैं, उनको कॉस्मोलॉजी या 'वैश्विक दर्शन' कहा जाता है। इसमें कौनसी बातें बतानी पड़ती हैं ? पहले यह बताना पड़ता है कि यह जो सारा अस्तित्व है, वह कहां से निकला ? और फिर यह बताना पड़ता है कि वह किधर जा रहा है, फिर यह बताना पड़ता है कि जहां से निकला, वहां से जहां जा रहा है, वहां जाने के लिए उसका रास्ता क्या है ? अर्थात् यह सारा अस्तित्व कहां से निकला, किधर जा रहा है और जाने का रास्ता क्या है ? अंग्रेजी में तीन प्रश्न किए जा सकते हैं, whence, whither and how, whence यानी कहां से निकला, whither यानी कहां जा रहा है how यानी कैसे अर्थात् किस पद्धति और प्रक्रिया से यह जा रहा है ? इन तीनों का उत्तर देने का प्रयास कार्लमार्क्स ने किया।

अस्तित्व के जन्म का सिद्धांत : न्यूटन से

तत्कालीन समाज के ज्ञान की अवस्था को ध्यान में रखते हुए उन्होंने तीनों के उत्तर दिये। उन्होंने अपना एक वैश्विक दर्शन उपस्थित किया। उनके समय तक पदार्थ विज्ञान का सर्वप्रमुख वैज्ञानिक न्यूटन माना जाता था। न्यूटन ने पदार्थ विज्ञान में यह सिद्धांत निकाला था कि यह जो कुछ सारा है वह जड़ पदार्थ (Matter) से निकला है। जड़-द्रव्य या भौतिक-द्रव्य यही सब कुछ है. यह मौलिक, मूलभूत या बेसिक है।

उन दिनों पश्चिमी जगत में एक वैचारिक संघर्ष चल रहा था. समाचार पत्रों में, पत्रिकाओं में, मंच आदि पर यह विचार चल रहा था कि मौलिक चीज कौन सी है ? जड़ पदार्थ (Matter) मौलिक है या मन (Mind) मौलिक है. भौतिक द्रव्य मौलिक है या आत्मशक्ति, मनमस्तिष्क (spirit mind) मौलिक है।

न्यूटन ने सिद्ध किया कि जड़ पदार्थ ही सब कुछ है और मन एक उसकी ऊपरी अधिरचना (super structure) है. मन का अपना निजी अस्तित्व कुछ नहीं है और इस दृष्टि से यह द्रव्य पदार्थ का ही एक अविष्कार है। पदार्थ विज्ञान में न्यूटन ने जो सिद्धांत दिया उसको मार्क्स ने वहां से उठाकर अपने वैश्विक दर्शन पर लागू किया और कहा कि यह जो अस्तित्व है, वह जड़ से निकला है।

उत्क्रान्ति की ओर : डार्विन से

अब दूसरा सवाल था कि यह सारा अस्तित्व किधर जा रहा है ? उनके समय में जीव-विज्ञान में डार्विन सर्वाधिक मान्य वैज्ञानिक थे। डार्विन ने उस समय सिद्धांत दिया था कि सारा अस्तित्व उत्क्रान्ति (evolution) की ओर जा रहा है। मार्क्स ने जीव-विज्ञान का यह सिद्धांत वहां से उठाकर अपने वैश्विक दर्शन में समाहित कर लिया और कहा कि यह द्रव्य पदार्थ की उर्ध्वगामि गति है और द्रव्य उत्क्रान्ति की ओर बढ़ता चला जा रहा है। (This is the upward movement of matter.)

विरोध विकासवाद : हेगल से

अब तीसरा प्रश्न आता है कि जहां से निकला, वहां से, जहां जा रहा है वहां जाने के लिए, रास्ता क्या है ? उनके समय ज्येष्ठ तत्वज्ञ हेगल ने विचार के क्षेत्र में एक 'विरोध विकास वाद' की कल्पना दी थी। 'Dialecticism'(विरोध-विकासवाद) यह संज्ञा इसे हेगल ने ही दी थी. दर्शन शास्त्र में से हेगल के इस चिन्तन को निकाल कर मार्क्स ने इसे अपने वैश्विकदर्शन का अंग बना लिया और कहा कि विरोध विकासवाद (Dialecticism) के माध्यम से जड़पदार्थ (Matter) का विकास होता है। यह विरोध-विकासवाद (Dialecticism) क्या है, इसको बताना आवश्यक है, क्योंकि कम्युनिज्म में विरोध विकासवाद का बहुत अधिक महत्व है. विरोध–विकासवाद एक प्रक्रिया है। ऐसा बताते हैं कि कोई भी एक अवस्था आप ले लीजिए. उस अवस्था को Thesis (क्रिया) कहा जाता था। उस अवस्था (Thesis) के पेट में उसकी विरोधी शक्तियों का निर्माण होता है। वे बढ़ती रहती हैं। जिसको Anti-thesis (प्रतिक्रिया) कहा गया है। Thesis (क्रिया) और Antithesis (प्रतिक्रिया) दोनों का संघर्ष होता है और इसमें से Thesis नष्ट होता है। तीसरी चीज निर्माण होती है, जिसको Synthesis (संश्लेषण) कहा गया है। यह Synthesis आगे चल कर Thesis बनता है जिसके पेट में Antithesis का निर्माण होता है.

उदाहरण के लिए मुर्गी का अण्डा है यह Thesis है. अब उसके पेट में प्राण शक्ति निर्माण होती है वह Antithesis है। दोनों का संघर्ष होता है, तो यह Thesis (अण्डे का टरफल) नष्ट होता है. और तीसरी चीज Synthesis अर्थात् चूजा निकलता है। जो आगे चलकर स्वयं Thesis बनता है और उसके पेट में Anti-thesis यानी विकार निर्माण हो जाते हैं और तीसरी चीज निकलती है। अर्थात् यह क्रम चलता चला जाता है। किसी भी वृक्ष का बीज, Thesis है. उसके पेट की प्राण-शक्ति Antithesis है दोनों का संघर्ष होता है तो ऊपर का बीज नष्ट होता है। और Synthesis यानी उसका अंकुर निकल आता है, इस तरह से वह प्रक्रिया चलती रहती है और यह Synthesis आगे चलकर फिर से स्वयं thesis बन जाता है. उसके पेट में भी Antithesis निर्माण होता है। वह Thesis को नष्ट करता है और तीसरा

Synthesis आता है। वह फिर Thesis बनता है। विरोध-विकासवाद की यह प्रक्रिया उन्होंने दी है।

हेगल के दिमाग में विरोध-विकासवाद का विचार भारतीय सांख्यदर्शन से आया। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि हेगल का मेज पर सांख्यकारिका का जर्मन अनुवाद रखा रहता था। उसका उन्होंने अध्ययन किया था और उसके बाद विरोध विकासवाद का विचार उनके मन में आया। मार्क्स ने हेगल से 'विरोध-विकासवाद' का सिद्धान्त लिया। इस तरह तीनों प्रश्नों के तीन उत्तर मार्क्स ने अपने वैश्विक दर्शन में दिए.

तीनों आधार ध्वस्त

(१) उस समय मनुष्य के ज्ञान की जो अवस्था थी उसमें ये तीनों उत्तर जंच गये थे। किन्तु मनुष्य के ज्ञान की सीमाएं अखण्ड वर्धमान हैं। उसके कारण ज्ञान बढ़ता गया. पदार्थ विज्ञान में न्यूटन का सिद्धांत कि द्रव्य पदार्थ मौलिक और मूलभूत है, को मिथ्या बताने वाला नया सिद्धांत आइन्स्टीन के समय आया. आइन्स्टीन के समय जो सिद्धांत आये उससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य पदार्थ को मूलभूत या आदितत्व नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आइन्स्टीन ने यह सिद्ध किया कि द्रव्यपदार्थ को शक्ति (Energy) में परिवर्तित किया जा सकता है. शक्ति द्रव्य (Matter) में बदल सकती है। दोनों परस्पर एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं, (Energy and matter are interconvertible.) इस लिए द्रव्य मौलिक या मूलभूत चीज नहीं हो सकता। जब दोनों एक दूसरे में परस्पर परिवर्तनशील सिद्ध हो गये तो मौलिक या मूलभूत जो भी उसका स्वरूप था, वह समाप्त हुआ। इसलिए यह निर्णय कि यह सारा अस्तित्व जड़ पदार्थ से निकला है, स्वयं ही पूरी तरह से गलत सिद्ध हो गया है. आइन्स्टीन ने यह पहला धक्का मार्क्स के वैश्विक दर्शन को पहुंचाया।

(२) अब दूसरा प्रश्न, कि सारा अस्तित्व किधर जा रहा है? डार्विन से उन्होंने इसका उत्तर लिया था, पर डार्विन के ही जीवन काल में स्वयं डार्विन को भी ऐसे कुछ सन्देह हुए कि क्या वास्तव में यह सब उत्क्रान्ति की ओर अनिवार्य रूप से जा रहा है? आगे चलकर जीव विद्या ने कुछ प्रगति की और यह तय हुआ कि उत्क्रान्ति (Evolution) भी होती है और अपक्रान्ति (Involution) भी होती है, दोनों क्रियाएं साथ-साथ चलती हैं और लगातार चलती रहती हैं, इस दृष्टि से यह सिद्धान्त कि यह सब केवल उत्क्रान्ति की ओर जा रहा है, गलत है, जीव विद्या के इन नए सिद्धांत के कारण मार्क्स के वैश्विक दर्शन का यह दूसरा प्रबल स्तम्भ ध्वस्त हो गया कि सब अनिवार्य रूप से उत्क्रान्ति की ओर जा रहा है।

(३) अब तीसरा बिन्दु है, विरोध-विकासवाद का रास्ता, इसके बारे में भी लोगों के मन में संदेह निर्माण हुआ, कुछ विचारकों के मन में उस समय भी संदेह था, इस प्रक्रिया के अनुसार पूंजीवाद Thesis है, उसके पेट में उपभोक्ता और मजदूरों का असन्तोष यह Antithesis है, दोनों के संघर्ष में पूंजीवाद के रूप में जो Thesis है वह नष्ट होता है और समाजवाद व साम्यवाद Synthesis निर्माण होता है, कम्युनिज्म का Synthesis निर्माण होने के बाद वह Thesis बन जायेगा और उसके

पेट में भी Antithesis का निर्माण होगा, Antithesis की Thesis के साथ लड़ाई होगी तो कम्युनिज्म खत्म होगा, कार्लमार्क्स का सिद्धांत यदि सार्वजनिन नियम Universal Law है तो साम्यवादी समाज निर्माण होने के पश्चात् इसी प्रक्रिया में कम्युनिज्म भी नष्ट होगा अन्यथा यह सार्वजनीन नियम नहीं हो सकता, यह तो विचारक लोगों ने उसी समय कहा था,) उसके पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र में दूसरा सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ, जिसके कारण मार्क्स के इस नियम को भी कुछ धक्का लगा है, विज्ञान ने यह कहा कि कोई भी चीज नष्ट नहीं होती, उसका रूपान्तर होता है। जैसे पानी बर्फ या वाष्प में बदल जाता है परन्तु नष्ट नहीं होता, उसके आगे पदार्थ शक्ति और शक्ति पदार्थ में परिवर्तित हो जाते पर पदार्थ को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। अर्थात दुनियां में कोई चीज नष्ट नहीं होती, उसका रूपान्तर भर होता है, विज्ञान का यह सिद्धान्त अपने हिन्दू समाज की विचारधारा के अनुकूल है, भगवद् गीता में आधारभूत सिद्धान्त के बारे में कहा गया है कि "नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" अनस्तित्व से अस्तित्व आ नहीं सकता और अस्तित्व अपने को स्वयं अनस्तित्व में परिणत नहीं कर सकता, "Out of non-existence existence cannot emerge, and existence can not culminate itself into non-existence," विज्ञान के इस सिद्धान्त के कारण मार्क्स के वैश्विक दर्शन को बड़ा धक्का लगा, यह वैश्विक दर्शन अब विज्ञान की कसौटी पर टिक नहीं सकता।

आप ऐसा मत समझिए कि कम्युनिस्टों का मजदूरों का आन्दोलन है, बोनस, महंगाई, भत्ते की लड़ाई है और उनके द्वारा वर्ग संघर्ष का प्रतिपादन केवल ऊपर की बातें हैं, वह एक उनके वैश्विक दर्शन में से निकला है, ये सब विरोध–विकासवाद के ही तर्क संगत उपसिद्धान्त हैं, इस तरह से मार्क्स के विचारों के आधार को ही विज्ञान ने ध्वस्त कर दिया, अब विज्ञान के कारण कम्युनिस्टों के लिये यह कहना कठिन हो गया है कि मार्क्स ने जो कुछ कहा है वह वैसे का वैसा ही सही है।

पूंजीवाद नष्ट करने का मार्ग

उन्होंने सारी प्रक्रियाओं का विवरण देते हुए विरोध – विकासवाद (Dialecticism) के सिद्धान्त के अनुकूल मानव जाति के इतिहास का विश्लेषण किया, उन्होंने बताया कि पूंजीवाद की स्थिति कैसे आ गयी, यह पूंजीवाद (Thesis) बन जायेगा और इसके पेट में असन्तोष का (Antithesis) निर्माण हो जायेगा, पूंजीवाद टूट जायेगा, अपने ही अन्तर्विरोधों के बोझ के नीचे दबकर नष्ट हो जायेगा, यह भी बताया कि अब जब स्वाभाविक रूप में ही पूंजीवाद अन्तर्विरोधों के बोझ के नीचे टूटने वाला है तो ऐसा क्यों न किया जाय कि जो टूटने वाली प्रक्रिया है उसकी गति को तेज किया जाय, जैसे यदि 'डिलीवरी' के स्वतः होने में देरी तथा बहुत अधिक पीड़ा होती है तो आपरेशन करके डिलीवरी करायी जा सकती है, उसी तरह से पूंजीवाद की परिस्थिति में जो अन्तर आने वाला है, उसमें आपरेशन द्वारा शीघ्रता की जा सकती है, आपरेशन यानी क्रान्ति, जो चीज ५०० साल में धीरे-धीरे होने वाली है उसको खूनी क्रांति के द्वारा हम आज ही हासिल कर सकते हैं, इससे मनुष्य जाति के ५००–६०० वर्ष बच जायेंगे, इस प्रकार उन्होंने खूनी क्रान्ति का प्रतिपादन किया।

समाजवाद का स्वरूप क्या होगा ?

अब हम दूसरा रूप देखें कि क्या मार्क्स ने कम्युनिज्म की रचना में कम्युनिस्ट समाज रचना की कोई पूरी रूपरेखा (Blue Print) दी है ? बहुत से लोगों को भ्रम है कि उन्होंने कम्युनिस्ट समाज की पूरी रूपरेखा (Blue print) दी है, मार्क्स ने बहुत अध्ययन किया, यह बात सही है, लन्दन में शाही पुस्तकालय में १८ साल तक उन्होंने अध्ययन किया, उस समय के समस्त विचारकों के साथ उनका व्यक्तिगत तथा पत्राचार का सम्बन्ध था, यह बात भी सही है, उनके समय में पाश्चात्य जगत में जितने आन्दोलन हुए उनका उन्होंने अध्ययन किया था, यह भी बात सही है, वे श्रेष्ठ विचारक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने समाजवाद या साम्यवाद की पूरी रूपरेखा (Blue print) दी थी।

यह समाजवाद कैसा होगा ? हरेक को उसकी आवश्यकतानुसार मिलेगा और हरेक से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जायगा, किन्तु यह सिद्धान्त कोई अर्थशास्त्र नहीं है, अर्थशास्त्र में पूरी आर्थिक रूपरेखा होनी चाहिए, समाज में उत्पादन कैसा होगा? उत्पादन के माध्यम कौन से होंगे ? उनका नियमन कौन करेगा ? वितरण कैसे होगा ? वितरण के अभिकर्ता कौन होंगे ? उसका नियमन कौन करेगा ? विनिमय प्रणाली कौन सी होगी ? उत्पादन और वितरण के अभिकर्ताओं का परस्पर संबध कैसा होगा ? उन सम्बन्धों का कौन नियमन करेगा ? इस सम्पूर्ण रूपरेखा (Blue print) को अर्थ रचना कहा जाता है, मार्क्स ने यह नहीं दिया, यह बात हम नहीं कह रहे अपितु स्वयं उनके शिष्य लेनिन ने ही कही है कि कार्लमार्क्स ने समाजव द की अर्थ रचना नहीं दी।

लेनिन के समक्ष समस्या आयी

जिस समय लेनिन सत्ता में आये उन्होंने मार्क्स की किताब के मुताबिक सब बड़े किसानों और जमींदारों को भगा दिया, खेतिहर मजदूरों में जमीन का बटवारा किया, पर खेतिहर मजदूरों को जमीन जोतने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी, इसलिए जमीन बंजर ही पड़ी रह गयी, इसके कारण अनाज का अकाल हो गया और फिर भगाये गये कुलाकों (Kulaks) को वापिस बुलाना पड़ा, उन्होंने एक नयी अर्थनीति बनायी और उसका नाम भी नई अर्थनीति (New Economic Policy) रखा गया, पर इस समय लेनिन के कुछ साथियों ने उनके ऊपर आरोप लगाया कि लेनिन मूलमार्ग से (Deviate) विचलित हो गये हैं, Deviation और Deviationist शब्द कोई नये नहीं हैं, जबसे साम्यवाद आया है तभी से Deviationism भी आया है, लेनिन के बारे में यह कहा गया कि लेनिन ने यह मार्क्स से Deviation किया है, उसका उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा कि—

समाजवाद की अर्थरचना के बारे में कार्लमार्क्स ने एक शब्द भी नहीं लिखा। यह कुछ लोगों को बहुत अटपटा सा लगेगा. किन्तु यह बात सही है. 'दास कैपिटल' में बहुत लिखा. किन्तु उसमें जो भी लिखा है उसका अन्तिम परिणाम यही है कि पूंजीवाद अपने अन्तर्विरोध के नीचे दबकर टूट जायगा। उसके बाद आने वाले समाज की आर्थिक रचना उन्होंने नहीं दी.

सावरकर–लेनिन वार्ता

मुझे स्मरण है कि मैं जिस समय कालेज में पढ़ता था उन दिनों हमारे यहां वीर सावरकर जी का दौरा था. मेरा छोटा सा गांव है, वहां भी सावरकर जी आये थे. वहां केवल हाईस्कूल था. वहां के बच्चों ने सावरकर जी के खिलाफ एक प्रदर्शन आयोजित किया. जिसके यहां वे ठहरे थे उनके यहां प्रदर्शनकारी गए. उनके हाथों में कुछ प्रश्नावली थी. वे कह रहे थे कि सावरकर जी इसका जवाब दें. यह स्पष्ट था कि कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने उनको भड़काया था. हम लोगों ने सोचा था कि सावरकर जी ऐसे ही छोड़ देंगे. पर सावरकर जी ने कहा कि भाई सबको बुलाओ. मैं उनके साथ बात करना चाहता हूं. बच्चों को बुलाया गया। कोई हाईस्कूल पास और कोई हाईस्कूल फेल छात्र थे। उनकी प्रश्नावली में पहला प्रश्न था कि तुम हिन्दू राष्ट्र की बात करते हो तो हिन्दू राष्ट्र की रूपरेखा (Blue Print) क्या है ? कैसी रचना होगी यह बताओ ? सावरकर जी ने सबको बिठाया और कहा कि प्रश्न पूछो तो ठीक तरह से पूछो. छात्रों ने प्रश्न पूछे इस पर सावरकर जी हंस दिये.

अपने उत्तर में उन्होंने एक संस्मरण सुनाया. कहा कि जब मैं लन्दन में था तो उस समय आयरलैण्ड के इमान डी वेलेरा और रूस के लेनिन दोनों ही लन्दन में थे, लेनिन के पीछे रूसी गुप्तचर थे। उनसे बचने के लिए वह फरार थे। तीन दिन उसको मैंने इण्डिया हाउस में रखा दिन भर मैं काम में रहता था किन्तु रात का मेरा भोजन लेनिन के साथ होता था। लेनिन जब इधर-उधर की बात करते थे तो मैंने लेनिन से यह कहा कि आपका 'इज्म' आदि क्या है इससे मुझे कोई मतलब नहीं। पर यह बताइये कि यदि रूस का शासन आप लोगों के हाथ में आता है तो आपके 'इज्म' के अनुसार रूस में सामाजिक, आर्थिक रचना क्या होगी ? लेनिन ने हंस कर कहा कि देखो मेरे पास इस तरह की कोई रूपरेखा (Blue Print) नहीं है और रूपरेखा (Blue Print) हो भी नहीं सकती। क्योंकि जब तक हम शासन में नहीं आते और परिस्थितियां दिखाई नहीं देतीं, तब तक हम सारा खाका कैसे तैयार करेंगे ? सावरकर जी ने उन प्रदर्शनकारियों से कहा कि आपके जो श्रेष्ठ नेता लेनिन थे, वे अपने कम्युनिस्ट समाज की पूरी रूपरेखा नहीं दे सके. आप मुझ से हिन्दू राष्ट्र की रूपरेखा मांग रहे हैं। यदि मैं लेनिन के साथ बात करता तो उनको याद भी दिलाता कि आपने ये कहा था, आप कैसे सारा खाका मांग रहे हैं ? लेकिन तुम तो ऐसे हो कि तुम्हारे साथ बातचीत भी नहीं कर सकता। तुमको सहमत नहीं कर सकता. अच्छा तुम जीत गये, मैं हार गया. इस तरह की बात सावरकर जी ने बच्चों को कही.

विभिन्न देशों में अलग-अलग प्रयोग

मतलब यह है कि साम्यवादी समाज में अर्थ रचना की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं है. इसी के कारण आज दुनिया में स्वयं अपने को मार्क्सवादी कहने वाले जो लोग हैं, उनकी भी तरह-तरह की अर्थरचना सामने आती है। (केवल उदाहरण के लिए बताया जाय तो रूस की अपनी एक अलग रचना है. जिस समय युगोस्लाविया में कम्युनिज्म का शासन आ गया, उन्होंने रूस से अलग रचना प्रारम्भ कर दी. रूस में सम्पूर्ण

स्वामित्व सरकार का होता है, सारे फार्म व उद्योग सरकार के स्वामित्व में रहते हैं, उद्योगों और कारखानों का कारोबार भी सरकार की मशीनरी चलाती है । पर यूगोस्लाविया ने कुछ अन्तर किया और यह कहा कि सरकार सम्पूर्ण देश के लिए योजना बनायेगी । पूरे देश के लिए राष्ट्रीय लक्ष्य निर्धारित करेगी । हरेक उद्योग के लिए लक्ष्य निर्धारित करेगी । उद्योगों में जितनी इकाइयां हैं उनके लिए भी लक्ष्य देगी । लेकिन कारखाने का कारोबार चलाने का दायित्व वहीं के मजदूरों के हाथ में रहेगा । अपना कारखाना चलाने का पूरा अधिकार कामगार परिषदों (Workers' council) को रहेगा । यह वहीं के मजदूरों की सीधी जिम्मेदारी रहेगी । उसमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी । किन्तु सरकार इतना देखेगी कि यह कामगार परिषदें ऐसे ढंग से अपना कारखाना चलायें कि जिससे राष्ट्रीय लक्ष्य की पूर्ति हो । बाकी कारोबार कैसे चलाते हैं, वेतन कितना देते हैं, आपस में बटवारा कैसे करते हैं, यह सब मजदूरों का काम है । इस तरह से राष्ट्रीय लक्ष्य के अन्तर्गत मजदूरों को अपना कारखाना सम्भालने की पूरी स्वतन्त्रता है । जब यह तरीका यूगोस्लाविया ने अपनाया तो रूस ने कहा कि यह भटकाव (Deviation) है । ऐसा सिर्फ इसलिये कहा गया क्योंकि यूगोस्लाविया में जो कुछ किया गया वह रूस से जुदा था । कुछ वर्षों पूर्व हंगरी ने कुछ अलग निर्माण करने का प्रयास किया । जैसे युगोस्लाविया में कामगार परिषदों को अपने-अपने कारखानों का कारोबार करने की स्वतन्त्रता है, वैसे हंगरी ने यह सोचा कि राष्ट्रीय लक्ष्य दिये जाये और एक-एक उद्योग के लिए निश्चित लक्ष्य दिये जाये किन्तु एक बार राष्ट्रीय लक्ष्य निश्चित करने के बाद फिर कारखानों की बाकी जितनी बातें हैं उसकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता वहां के प्रबन्धकों को दी जाय ।

जो स्वतन्त्रता यूगोस्लाविया ने मजदूरों को दी, वही आन्तरिक स्वतन्त्रता हंगरी ने प्रबन्धक मण्डल को देने का प्रयास किया । कच्चा माल कहां से खरीदना, किस दर पर खरीदना, बाजार कैसे ढूंढ़ना । बाजार कैसे निर्माण करना, मजदूरों का वेतन तय करना आदि कुछ अधिकारों की स्वतन्त्रता व स्वायत्तता प्रबन्धक मण्डल को दिये गये । तुरन्त रूस ने इस पर आपत्ति उठाई । रूस को हर समय यह डर रहता है कि यदि साम्यवादी रचना में कोई दूसरा प्रयोग सफल होता है तो रूसी लोग भी कहेंगे कि जो प्रयोग वहां सफल हुआ है, वह यहां क्यों नहीं किया जाय ? इसी तरह के प्रयोग के विषय में चेकोस्लोवाकिया के नेताओं ने कहा था कि थोड़ा परीक्षण और प्रयोग कर रहे हैं । इसको २–४ साल देखेंगे । यदि इसके परिणाम अच्छे आते हैं तो इसको लागू करेंगे । पर रूस इसकी अनुमति कैसे दे सकता था ?

चीन में जो चला है वह तो लोगों की दृष्टि में है वहां अखण्ड क्रांति चल रही है । चीन में क्रांति का क्रम अखण्ड रूप से चल रहा है । किन्हीं कारणों से क्यों न हो, हमेशा गड़बड़ चलती रहती है । सामाजिक नीति स्थिर नहीं । इस तरह से चीन का चित्र अलग है । कुछ पूर्वी यूरोप के देशों का चित्र अलग है । रूस का चित्र अलग हैं । इसका एक कारण यह भी है कि साम्यवाद का कोई अधिकृत स्वरूप नहीं । इसके कारण अलग-अलग जगह अलग-अलग प्रयोग चलते हैं और सब अपने को मार्क्सवादी कहते हैं ।

वास्तव में यदि मार्क्सिज्म या कम्युनिज्म एक 'इज्म' है, तो उसकी एक प्रणाली होना चाहिए। इज्म का मतलब एक सांगोपांग सामाजिक आर्थिक प्रणाली होता है। और फिर ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत सब लोगों को चलना चाहिए।

हमारी रचना में इज्म की बात नहीं है। इसलिए सब लोगों के लिए एक ही रचना का होना आवश्यक नहीं। विचारों और प्रक्रिया का एकमार्गीकरण (Regimentation) हमारे यहां नहीं है। किन्तु जहां कोई मार्क्सवाद या कम्युनिज्म की बात लेकर चलते हैं तो अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से एक अधिकृत रचना होनी चाहिए। लेकिन कोई अधिकृत स्वरूप मार्क्स ने नहीं दिया। इसलिए अलग-अलग प्रयोग चलते हैं। कोई समान रूप नहीं है।

दुनिया के मजदूरों–

एक बात और है। यदि कोई इज्म है तो सम्पूर्ण मानवता के लिए और सम्पूर्ण मानवता का विचार उसमें आना चाहिए। इस इज्म में मानवता के सभी अंग बराबर बिठाये जाने चाहिए। जो 'इज्म' अर्थरचना को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता हो, उसे तो सब महत्वपूर्ण अंगों का विचार विस्तार से करना ही चाहिये।

मार्क्स ने यह कहा कि राष्ट्रीयता के अनुसार मनुष्यता का बटवारा गलत है। मार्क्स ने कहा कि यह तो केवल दो खेमों में विभक्त है। एक खेमा उत्पादन के साधन के मालिकों (Haves) का है। ये सम्पन्नजन हैं। दुनिया में सभी देशों के उत्पादन के साधनों के तमाम मालिकों का मिलकर एक खेमा है। और शेष जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं वे वंचितजन (Have nots) हैं। इनका दूसरा खेमा है। दोनों खेमों को अलग करने वाली जो रेखा है वह लम्बरूप (Verticle) नहीं है। लम्बरूप रेखा का अर्थ यहां राष्ट्रीयता की रेखाओं से है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, भारत व चीन में मानवता का वर्गीकरण करने वाली रेखायें लम्बरूप हैं। मगर सम्पन्नजनों को दूसरों से विभाजित करने वाली रेखा पड़ी हुई समक्षितिजीय (Horizontal) रेखा है जो दुनिया के हर देश से होकर गुजरती है। इस रेखा के जो ऊपर है वह सारे सम्पन्नजन (Haves) हैं तथा इस रेखा के जो नीचे हैं वे सब वंचितजन (Have nots) हैं। इस तरह सारी दुनिया को मार्क्स ने राष्ट्रीयता निरपेक्ष दो खेमों में विभक्त किया था।

मार्क्स ने किसानों का स्पष्ट विचार नहीं किया

मार्क्स इंग्लैंड में थे। सम्पूर्ण अध्ययन वहीं किया था और मार्क्स के मस्तिष्क पर इंग्लैंड की पृष्ठभूमि का बड़ा असर था। इंग्लैण्ड कृषि–प्रधान देश नहीं था। इंग्लैण्ड की अर्थनीति कृषि-प्रधान नीति नहीं हो सकती थी। इसका भी प्रभाव उनके मन पर था। इसके कारण कृषि-प्रधान देशों की समस्याओं की कल्पना वे ठीक ढंग से नहीं कर सके। पूर्वी यूरोप के कतिपय कृषि-प्रधान देशों के अनेक कम्युनिस्टों ने उनको पत्र लिखकर कुछ प्रश्न किये कि छोटे किसान की गिनती कम्युनिस्ट सिद्धांत सरणी में कहां आती है? मार्क्स अपने जीवन के अन्त तक इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाये। आगे चलकर यही समस्या बरकरार रही।

वर्ग–कल्पना

मार्क्स ने कहा था कि Haves (सम्पन्न अर्थात् पूंजीपति) और Have notes (विपन्न अर्थात् सर्वहारा) ये दो वर्ग हैं। जिनके पास उत्पादन के साधन हैं, वह एक वर्ग और जिसके पास नहीं हैं, वह दूसरा वर्ग है। इन दोनों में अखंड संघर्ष है। मेरी एक साम्यवादी के साथ बातचीत हुई। वे हमारे मित्र भी हैं। मैंने उनसे कहा कि आप लोग बता रहे हैं कि पूंजीपति तथा सर्वहारा दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं। तो यह भी बताइए कि इन दो वर्गों को परिभाषित करने की दृष्टि से सीमा रेखा क्या है ? ताकि पता लगे कि उस रेखा के ऊपर पूंजीपति हैं और नीचे के लोग सर्वहारा हैं। उन्होंने कहा कि यह रेखा तो है ही। कुछ तो पूंजीपति हैं और कुछ सर्वहारा। मैंने कहा कि यह ठीक है। लेकिन आप हमें दोनों के बीच की सीमारेखा बताएं। क्योंकि मेरे सामने एक व्यावहारिक असुविधा है। ये धनी और ये निर्धन, यदि हम इसी को लेकर विचार करें तो ५ रु० कमाने वाला चपरासी कहता है कि मैं तो सर्वहारा हूं, लेकिन यह जो बाबू मेज पर बैठ कर लिखता है, जिसको ५० रु० मिलते हैं, वह धनी है। बाबू कहता है कि मैं तो निर्धन हूं, मेरा मैनेजर जिसको ५०० रु० मिलता है वह धनी है। मैनेजर कहता है कि मैं निर्धन हूं। मेरा यह ५००० रु० कमाने वाला मालिक धनी है। अब मालिक कहता है कि मैं तो गरीब हूं केवल ५००० रु० ही कमाता हूं। ये जो टाटा-बिरला करोड़ों रुपये कमाने वाले हैं, ये धनी हैं अर्थात हरएक अपने को निर्धन कहता है और दूसरों को धनी। आप मुझे बताइये कि इसमें सीमारेखा क्या है ? कितने रुपए के नीचे निर्धन कहेंगे और कितने रुपये के ऊपर धनी कहेंगे ? १०० रु., २०० रु. ५०० रु. या १००० रु. कुछ तो बताइए। रात का समय था। उन्होंने कहा देखिए कल इसके बारे में बात करेंगे। मैंने कहा कि ठीक है। दूसरे दिन प्रातः ही आये। मकान में पुकारा तो मैं समझ गया कि वे पूरी तैयारी करके आये हैं। कहने लगे ठेंगड़ी जी ! कल तो आपने हमें भ्रमित कर दिया। आपने गलत प्रश्न पूछा ! मैंने कहा कि कैसे ? वे बोले, देखिए ! धनी और निर्धन में आमदनी की कोई सीमारेखा नहीं है, सीमारेखा है मालिक और मजदूर की। यानी जो उत्पादन के साधनों के मालिक हैं, वे सारे धनी वर्ग (Camp) में हैं और बाकी जो उनमें काम करने वाले मजदूर इत्यादि हैं, ये निर्धन वर्ग में हैं। यह सीमारेखा है। फिर मैंने उनको पूछा कि अब तो यह निश्चित हो गया है ? अब तो आपको कोई भ्रमित नहीं कर रहा ? वे बोले नहीं, यह सीमारेखा अन्तिम है। मैंने कहा कि यह तय हो गया कि सारे मालिक एक तरफ और सारे मजदूर एक तरफ हैं। लेकिन अब मेरे सामने कुछ प्रश्न आते हैं। छोटे किसान को धनी वर्ग में गिनेंगे या निर्धन वर्ग में गिनेंगे ? क्योंकि उसके पास आधा एकड़ जमीन है। चूंकि उत्पादन के साधन उसके पास हैं। इसलिये वह धनी वर्ग में आ जायेगा। दूसरी बात यह है कि आधा एकड जमीन से पूरे परिवार का पालन-पोषण नहीं हो सकता। इसलिए वह दूसरों के यहां काम भी करता है। वहां वह मजदूर के नाते काम करता है। अतः उस समय मालिक दूसरा रहता है। इस छोटे किसान को धनी कहेंगे या निर्धन ? क्योंकि आंशिक रूप से वह मालिक है और आंशिक रूप से वह मजदूर है। मार्क्स ने तो अपने

जीवन के अंत तक इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। अतः आप कृपया इसका उत्तर दीजिए। वे बोले कि यह तो आपने केवल एक श्रेणी (Category) की चर्चा की।

मैंने कहा कि अच्छा ठीक है। अब दूसरा उदाहरण लें। हमारे यहां का एक बहुत बड़ा सेक्टर हमारा विश्वकर्मा सेक्टर है। ये स्वकर्मी (Self Employed) हैं, जैसे बढ़ई, चमार, लोहार, नाई आदि। इनको आप क्या कहेंगे? ये तो मालिक भी नहीं और नौकर भी नहीं। वे स्वयं अपने मालिक और स्वयं अपने कर्मचारी हैं। उन्होंने कहा आपने तो चारपांच लोगों का नाम ले लिया। मैंने कहा कि य केवल चार-पांच लोग नहीं हैं। हिन्दुस्थान के कई करोड़ लोग स्वकर्मी हैं। इनको कौनसे वर्ग में डालेंगे? उन्होंने कहा कि इसका भी बाद में विचार करेंगे। मैं ने कहा कि चलो ठीक है।

फिर मैंने कहा कि जो मजदूर हैं, उनका विचार भी मेरे मन में आता है। मान लीजिए कि मैं किसी फैक्ट्री में बाबू का काम कर रहा हूं। मैं १० बजे से ५ बजे तक फैक्ट्री में काम करता हूं। अतः वहां मैं मजदूर हूं। मेरा मालिक या मैनेजर होगा, वह धनी वर्ग में रहेगा और मैं निर्धन वर्ग में रहूंगा। लेकिन ५ बजे गैं अपने मकान में आ जाता हूं। अपने यहां रसोई बनाने या झाड़ू लगाने के लिए रखे हुए नौकर को कहता हूं कि जरा एक कप चाय बनाओ, मैं थककर आया हूं। उस समय वह मेरा नौकर बन जाता है और मैं उसका मालिक बन जाता हूं। अब मेरी गिनती कौन से वर्ग में होगी? आपकी परिभाषा के अनुसार १० से ५ बजे तक तो आप मुझे विपन्न वर्ग में रखेंगे। और सायं ५ बजे से दूसरे दिन प्रातः १० बजे तक मुझे सम्पन्न-वर्ग में रखेंगे। और यदि दोनों वर्ग में लड़ाई शुरू हो जाय तो मैं किधर रहूंगा? क्या १० बजे से ५ बजे से तक मैं इधर से तलवार इत्यादी लेकर लड़ाई करुंगा और ५ बजे दूसरे दिन के १० बजे तक उधर बंदूक आदि लेकर लड़ूंगा? मेरी क्या भूमिका रहेगी? उन्होंने कहा कि आपने तो अपवाद-जनक परिस्थितियों के उदाहरण बताये। मैंने कहा कि अपवाद नहीं, ये वस्तु-स्थितियां हैं, जो सर्वत्र चल रही हैं।

वर्ग-कल्पना मिथ्या

संक्षेप में मेरे कहने का आशय यह है कि तकनीकी दृष्टि से वर्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह कवि की कल्पना मात्र है। यह बात तो ठीक है कि तरह-तरह के स्वार्थ हैं और उनमें परस्पर विरोध भी निर्माण हो सकता है। लेकिन वर्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है। विभिन्न श्रेणियां हैं, जिन्हें आज नष्ट करना होगा।

'वर्ग' का प्रचलित अर्थ

लेकिन यदि हम ऐसा मान लें कि वर्ग शब्द का उपयोग समाज में अलग-अलग विभागों (Divisions) को बताने के लिए किया गया है तो मैं कहना चाहूंगा कि हमारे यहां भी विभाग थे। श्रम विभाजन था। जहां भी समुन्नत समाज होगा वहां श्रम विभाजन होगा ही, क्योंकि एक ही आदमी सब काम नहीं कर सकता।

अब हम इसका विचार करें कि ये लोग कहीं भी वर्गविहीनता ला सके हैं क्या? यह स्पष्ट है कि नहीं ला सके। जैसा मैंने कहा कि साम्यवादी देशों में भी शासक एवं

शासित वर्ग है। रूस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री खुश्चेव का एक लेख छपा था। उसमें उन्होंने कहा था कि बचपन में भी लोगों के दिमाग में वर्ग–भेद का भाव आता है। इनको कैसे दूर करना—यह समस्या मेरे सामने है। उन्होंने लिखा कि रूस के विद्यालयों और महाविद्यालयों में जो मध्यावकाश होता है, उस समय पेड़ के नीचे या और कहीं बाहर बाग इत्यादि में आपस में झुंड बनाकर लड़के बैठ जाते हैं। प्रशासकों और वैज्ञानिकों के लड़के अलग–अलग झुंड बनाते हैं और साधारण श्रमिक और किसान के लड़के अलग झुंड बनाते हैं। बचपन से ही यह वर्ग–भाव आता है। इसको कैसे दूर किया जाये ? यह बात खुश्चेव ने कही। यानी वहां वर्ग हैं और वर्ग–भेद का भाव भी है, इसमें कोई संदेह नहीं। उन्होंने भी इसे स्वीकार किया है। वहां वर्गविहीनता नहीं आई, वर्ग–विहीन समाज निर्माण नहीं हुआ।

नेतृत्व और क्रान्ति कौन करेंगे ?

जब प्रत्यक्ष क्रान्ति का मौका आया तो उस समय लेनिन के सामने विकट समस्या आयी। रूस कम औद्योगीकरण वाला राष्ट्र था, वहां मजदूरों की संख्या कम थी। समस्या यह थी कि क्रान्ति का चक्का आगे किसके सहारे बढ़ाया जाय ? एक बात जानकारी के लिए कहना आवश्यक है कि कम्युनिज्म में सब मजदूरों के लिए एक जैसी मान्यता एवं व्यवस्था लागू नहीं। सर्वहारा (Proletariat) का अर्थ इस तरह का मजदूर जिसके पास भगवान के दिये हुये दो हाथों को छोड़कर और कुछ साधन नहीं (Nothing to fall back upon)। मार्क्स ने कहा कि ऐसे व्यक्ति ही क्रान्ति के अग्रेसर बनेंगे।

अब लेनिन के सामने दो तरह की समस्याएं आईं, मार्क्स ने सिर्फ सिद्धान्त सरणी दी थी लेकिन लेनिन को प्रत्यक्ष क्रान्ति का कार्य करना था, उन्होंने पहला अनुभव यह किया कि सर्वहारा (Proletariat) की क्रान्ति के लिए मरने की तैयारी हो सकती है क्योंकि उसके लिए कहा गया है तुम्हारा कुछ भी नुकसान नहीं, क्रान्ति में केवल तुम्हारे बन्धन टूटेंगे, (You have nothing to lose but your chains) क्रान्ति के लिए सिपाही का और मरने का काम तो वह कर सकता है। किन्तु नेतृत्व में कुछ बुद्धिमानी तथा कुछ गुणों का उत्कर्ष आवश्यक है, वह सर्वहारा में नहीं पाया जा सकता। इस तरह का कम गुणी और कम बुद्धिमान व्यक्ति नेतृत्व करने का काम सफलतापूर्वक कैसे करेगा ? लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त में परिवर्तन करते हुए कहा कि सर्वहारा नेतृत्व नहीं करेगा, यह सिपाही का काम करेगा, कम्युनिस्टपार्टी के कर्णधार (Professional Revolutionaries) नेतृत्व करेंगे।

क्या किसान साथ रहेगा ?

उसी समय किसान का भी उनको विचार करना पड़ा। वहां सर्वहारा मजदूरों की संख्या भी कम थी, बिना किसानों की सहायता से रूस में कोई रचना लाना सम्भव नहीं था। उन्होंने सिद्धांत बताया कि सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व रहेगा। लेकिन क्रान्ति और क्रान्ति के बाद जो समाज–रचना होगी उसमें सर्वहारा और किसान दोनों का साथ

रहेगा। लेकिन क्योंकि किसान पिछड़ा हुआ है और सर्वहारा अगुआ रहता है इसलिए सर्वहारा के प्रभुत्व में सर्वहारा और किसान का गठबंधन काम करेगा।

चीन में किसान आगे रहे

आगे चलकर माओत्सेतुंग के समक्ष चीन में क्रान्ति का अवसर आया, चीन में औद्योगिक मजदूरों की संख्या और भी बहुत कम थी और वहाँ जो भी क्रान्तिकार्य होना था—वह किसानों के द्वारा होना था, उन्होंने किसानों को सामने करते हुए किसानों के ही भरोसे क्रान्ति की। रूस के जो किताबी मार्क्सवादी और किताबी कम्युनिस्ट थे उनके सामने प्रश्न उठा कि जिस क्रान्ति का नेतृत्व किसानों ने किया उसको कम्युनिस्ट क्रान्ति कैसे कहा जा सकता है ? इसी कारण जैसे ही चीन में कम्युनिस्ट क्रान्ति सफल हुई रूस ने अधिकृत वक्तव्य दिया कि यह और कुछ भले ही हो अधिकृत कम्युनिस्ट क्रांति नहीं है।

किसानों की भूमिका अस्पष्ट

किसान के विषय में मार्क्स अपने अन्तिम क्षण तक निश्चित भूमिका न दे सके। उसके बाद भी कम्युनिस्ट इसे तय नहीं कर सके। राजनैतिक आवश्यकता के नाते कभी गठबंधन कहा गया. कभी कुछ और कहा गया किन्तु यह जो मानव जाति का सबसे बड़ा भाग किसानों का है इसके विषय में कुछ भी निश्चित भूमिका अब तक नहीं बना सके। इस तरह से सारे चित्र में अनिश्चितता दिखाई देती है। अर्थशास्त्र क्या रहेगा इसके बारे में भी कोई निश्चित उत्तर नहीं। किसानों के बारे में क्या भूमिका रहेगी, इसके बारे में भी कोई उत्तर नहीं। इस दृष्टि से मार्क्स के विचार को यदि हमने इज्म मान लिया तो यह बहुत ही त्रुटिपूर्ण होगा।

इज्म का मतलब यह होता है कि उन सिद्धांतों एवं विचारों को परिपूर्णत्व प्राप्त हो चुका है। इस दृष्टि से देखा तो यह बड़ी त्रुटि है। इज्म के लिए इसकी आवश्यकता है।

आगे सारी एकान्तिकता से हटना पड़ा।

(१) साम्यवादी समाज के स्वरूप की परिपूर्ण रूपरेखा न सही तो भी स्थूल मार्गदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न कम्युनिस्ट देशों के कारोबार का यदि विश्लेषण करें तो बड़ा विचित्र दृश्य दिखाई देता है, उदाहरण के लिए हम पहले रूस को ही लें क्योंकि सबसे पहले कम्युनिस्ट राज्य क्रान्ति रूस में हुई। मार्क्स के द्वारा दिये गये स्थूल मार्गदर्शक सिद्धान्तों के प्रकाश में आज रूस की जो हालत है उस पर हम दृष्टिपात करें। स्थूल मार्गदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने सबसे पहले निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया। धीरे-धीरे यह दिखाई दिया कि किसी के पास जमीन या कोई और सम्पत्ति नहीं रही। किसानों से जमीन छीनने के बाद सामूहिक खेती फार्म पर उनको मजदूर के नाते ही रखा गया। अपना छोटा-सा टुकड़ा देखने के कारण उत्पादन का जो उत्साह तथा कार्य करने की जो प्रेरणा उनमें होती थी वह प्रेरणा समाप्त हो गयी। फलस्वरूप सामूहिक खेती फार्म पर उत्पादन की दर फसल-दर-फसल कम होने लगी। इसके बाद उन्होंने प्रायोगिक रूप में थोड़ी

सी जमीन किसानों को बागवानी के लिए देना शुरू किया। इससे ऐसा अनुभव आया कि अपने उस छोटे से टुकड़े में लोगों ने बहुत अधिक दिलचस्पी ली। क्योंकि भले ही छोटा सा टुकड़ा था–पर निजी सम्पत्ति के नाते था परिणामस्वरूप इन निजी टुकड़ों में अनुपाततया उत्पादन बहुत ज्यादा हुआ। परन्तु सामूहिक खेती फार्म पर उत्पादन का दर बहुत कम रहा। अब एक तरफ तो निजी खेतों पर उत्पादन वृद्धि की प्रयोगसिद्ध सहज प्रेरणा थी और दूसरी ओर मार्क्स द्वारा दिये गये स्थूल मार्गदर्शक सिद्धान्त थे। उत्पादन वृद्धि की जटिल समस्या के समाधान के लिए उन्होंने पुनः बागवानी की जमीन का क्षेत्रफल बढ़ाया। पहले उन्होंने कहा था कि आपकी जमीन में चाहे सब्जियां हों या फल हों, आप उसे बाजार में बेच नहीं सकते। सरकार ही उसे अपनी कीमत पर खरीद लेगी। इस शर्त के बाद फिर से उत्पादन गिर गया। फिर उन्होंने कहा कि आप बेच तो सकते हैं। लेकिन रूसी नागरिक को नहीं बेच सकते, विदेशियों को बेचना होगा। बाजार में नहीं बेच सकते। रेलवे स्टेशन और बस के अड्डों पर बेचना होगा। जब बेचने का स्वातंत्र्य प्राप्त हुआ तो बागायत में उत्पादन बढ़ गया। आज धीरे-धीरे उन्होंने निजी सम्पत्ति प्रत्येक के लिए कायम कर दी, भले ही सीमित मात्रा में ही क्यों न हो।

(२) फिर दूसरी बात यह हुई कि किसी का कोई मकान नहीं रहे, सारे मकान राज्य के हो गये। आज भी सारे मकान राज्य के अधिकार में हैं। लेकिन आज मकान पर सीमित निजी अधिकार मकान वालों को दिए गए हैं। अर्थात् जब तक मनुष्य जीवित है तब तक वह 'फ्लैट' का स्वामी रहेगा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसी के वारिस वहां पर रहते हैं तो वह फ्लैट उनके पास रहेगा। उनकी ही निजी सम्पत्ति के नाते रहेगा। यदि कोई वारिस नहीं रहा तो वह सीधे राज्य के अधिकार में हो जायगा।

(३) मार्क्स परिवार के घोर विरोधी थे। इस सिलसिले में परिवार के बारे में भी विचार किया जाय। उन्होंने कहा था कि परिवार तो बुर्जुआ व्यवस्था है। यह समाज विरोधी तत्वों ने निर्माण की है। परिवारों को नष्ट करना चाहिए। मार्क्स ने बताया कि परिवार नाम की कोई चीज न रहे। कोई किसी का पति नहीं, कोई किसी की पत्नी नहीं। सम्पूर्ण समाज एक है। सब लोग समूह में रहेंगे। पति नहीं है, पत्नी नहीं है, बच्चा नहीं है, पिता नहीं है, माता नहीं है तो कुछ नही है। जैसे जानवरों का बाड़ा होता है। सब एक दूसरे के साथ समागम करते हैं और प्रजनन उत्पादन होता है, वैसे ही होगा। जो सन्तानोत्पत्ति होगी वह किसी के मातृत्व की या पितृत्व की नहीं होगी। जैसे ही बच्चा पैदा होगा वह राज्य का हो जायगा अर्थात् राज्य और बच्चे का सीधा सम्बन्ध रहेगा। बीच में माता, पिता आदि की कोई बात नहीं। इसके कारण पितृत्व को स्वीकार करने का कोई झंझट नहीं। इस तरह से समूह का निर्माण होगा। ऐसे समूहों (कम्यून्स) के निर्माण का प्रयास भी रूस में हुआ। किन्तु यह प्रयास असफल रहा। लोग समूहों (कम्यून्स) में चि नहीं लेते, ऐसा दिखाई देने लगा। विवशता में 'कम्यून्स' में रहना पड़ा तो भी विशेष स्त्री, विशेष पुरुष, इनमें परस्पर विशेष आकर्षण तथा आपस में मिलकर रहने की इच्छा है ऐसा दिखाई देने लगा। यह भी अनुभव आया कि बच्चों का पालन-पोषण यदि राज्य के बच्चों के नाते किया गया तो बच्चों का

विकास ठीक ढंग से नहीं होता था। धीरे-धीरे कम्यून्स की पद्धति को छोड़ना पड़ा और कम्यून्स टूट गए, स्त्री और पुरुष इकट्ठा रहने लगे और उनको वैधानिक रूप से पति-पत्नि नहीं कहा किंतु पति-पत्नी का ही सम्बन्ध रहा, दोनों इकट्ठा रहने लगे, एक ही फ्लैट में रहने लगे। उनके बच्चे भी उनके साथ रहने लगे–इस तरह से फिर परिवार संस्था आयी। यह भी इच्छा निर्माण हुई कि यह परिवार संस्था परिपूर्णत्व प्राप्त करे। दो साल पूर्व वहां परिपूर्णत्व की आखिरी कल्पना के लिए लोगों ने थोड़ी सी आवाज उठायी। कहाकि हमें हमारे बच्चों का पितृत्व वैधानिक रूप से प्रदान किया जाय। इस मांग को सरकार ने मान लिया। आज परिवार संस्था, जो कम्युनिज्म के या मार्क्सवाद के अनुसार एक प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ मान्यता थी, को हम रूस में देख सकते हैं।

(४) फिर सारे उद्योग सरकार ने अपने हाथ में ले लिए। उन्होंने कहा कि इससे उत्पादन बढ़ेगा, पर काम करने की प्रेरणा क्या रहेगी? मनुष्यता का विकास हो, मनुष्य का कल्याण हो, क्या केवल इसी प्रेरणा से लोग काम करेंगे? लेकिन जब भौतिकता ही प्रेरणा का आधारभूत तत्व हो तो केवल भौतिकता के आधार पर सेवा की प्रेरणा हो नहीं सकती। मानवता की प्रेरणा भी नहीं हो सकती। रूस में उद्योग के लोग जब इन प्रेरणाओं से ज्यादा काम करने को तैयार नहीं हुए तो बलात काम करवाना पड़ा। हड़ताल का अधिकार उनसे छीन लिया गया।

हिन्दुस्तान में कम्युनिस्ट हड़ताल के अगुआ बनते हैं, रूस में हड़ताल का अधिकार नहीं है। अपनी ट्रेड यूनियनों को स्वयं चलाने का अधिकार नहीं। अपनी यूनियनों के पदाधिकारियों का स्वयं चुनाव नहीं कर सकते। पार्टी जिसका नाम देगी, यूनियन को उसे ही मन्त्री के नाते चुनना होगा। इस तरह से मजदूरों के सारे अधिकार छीन लिए गए। इन सबका फल यह हुआ कि उत्पादन की प्रेरणा मर सी गई। उन्हें सोचना पड़ा कि प्रेरणा की दृष्टि से क्या किया जाय? जिस पूंजीवादी व्यवस्था की निन्दा की थी, जिसका घोर विरोध किया था, बाध्य होकर उसके ही कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करना पड़ा। दो सिद्धान्त हैं, एक है स्पर्धा और दूसरा लाभ पाने का उद्देश्य। इन दोनों की मार्क्स ने बहुत निन्दा की थी। उन्होंने कहा था कि इन दोनों का तो निर्मूलन हो ही जाना चाहिए। जब निर्मूलन हो गया तो उत्पादन घट गया। दूसरा कोई प्रेरणा का स्रोत नहीं था। इसलिए फिर से स्पर्धा और लाभ के सिद्धान्तों को परीक्षण के तौर पर शुरू किया गया।

सन् १९६१ के अक्टूबर में, मध्य साइबेरिया में इंजिनियरिंग और केमिकल्स के प्लांट्स में फैक्टरी के स्तर पर ये दोनों सिद्धान्त लागू किए गये। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक क्षेत्र में दवाओं के पांच कारखाने हैं। सरकार उन्हें कहे कि तुम अपना कारोबार इस ढंग से चलाओ कि जिससे तुम्हारा लाभ अन्य चार के मुकाबले बढ़े–आपस में स्पर्धा रहेगी। पहले यह कहा गया था कि सबके लिए समान नियम हैं। इसके कारण स्पर्धा का कोई सवाल नहीं था। लाभ का कोई सवाल नहीं। तुम कुछ कम वेतन दोगे तो भी चलेगा। दाम बढ़ा देने पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं। सस्ता कच्चा

माल खरीदने के बारे में भी कोई अड़चन नहीं। तुम स्पर्धा कर सकते हो। लेकिन हम यह देखेंगे कि दवाओं के पांचों कारखानों में किसका लाभ ज्यादा होता है? उसको पुरस्कार भी मिलेगा। इस साल का अच्छा औषधि कारखाना यह है, यह भी घोषित होगा। जब पूंजीवादी व्यवस्था के दोनों सिद्धान्तों को लागू किया गया तो दिखाई दिया कि यह प्रयोग सफल हुआ। आज ये दोनों सिद्धान्त चल रहे हैं। अर्थात् जिनका घोर निषेध किया गया था, उन सिद्धान्तों को फिर से लागू किया गया। मार्क्सवाद की यह सैद्धान्तिक पराजय थी।

(५) पूंजीवादी सिद्धान्त, मांग के अनुसार पूर्ति के सिद्धान्त की भी निन्दा मार्क्स ने की थी। मार्क्स ने कहा मांग के अनुसार पूर्ति के सिद्धान्त को हम चलने नहीं देंगे और कम्युनिज्म में इस सिद्धान्त के लिए कोई स्थान होने का सवाल ही खड़ा नहीं होना चाहिए था। किन्तु फिर उनको लगा कि मांग के अनुसार पूर्ति न होने के कारण उपभोक्ता वस्तुओं में एकरूपता आ गयी। एक जैसी सभी चीजें होने के कारण लोगों की खरीदने की इच्छा कम होने लगी। उदाहरणार्थ कपड़े को लें। यदि सबके लिए एक जैसा कपड़ा पैदा होगा तो लोगों की खरीदने की इच्छा कम होती है। उनको दिखाई देने लगा कि हरेक की रुचि अलग होती है। किसी को कोई रंग अच्छा लगता है किसी को कोई डिजाइन अच्छी लगती है। अलग-अलग लोगों की रुचि को ख्याल में रखते हुए यदि कपड़े की डिजाइन में अन्तर कर दिया जाय, अधिकांश लोगों की पसन्दगी के सन्तुष्ट करने के लिए कपड़ों को जुदा-जुदा रंगों में और बारीक या मोटा बनाया जाय तो खपत बढ़ जायेगी और वह ज्यादा बेचा जायगा। इसका प्रयोग १९६६ के जून में उन्होंने कपड़ा उद्योग में किया। अलग-अलग प्रदेशों में जाकर लोगों को कपड़े के बारे में विभिन्न रुचियों को जानने के लिए विशेष व्यक्तियों को नियुक्त किया। लोगों की रुझान का पता लगाकर—वैसा ही कपड़ा निर्माण करने का प्रयास किया गया। कपड़ा उद्योग में इस प्रयोग के सफल होने के कारण आज रूस में यह सोचा जा रहा है कि बाकी उपभोक्ता वस्तुओं के बारे में भी मांग के अनुसार पूर्ति का सिद्धान्त फिर से कैसे लागू किया जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि कम्युनिस्ट मार्क्स की मूल अवधारणाओं से एक-एक करके कदम पीछे हटाते जा रहे हैं।

(६) उन्होंने यह भी कहा कि जब सभी वर्ग नष्ट हो जायेंगे तो वर्गहीन समाज का निर्माण होगा। हम वर्गहीन समाज की रचना करना चाहते हैं। लेकिन उसमें रूस का और बाकी कम्युनिस्ट देशों का अनुभव इससे यह विपरीत दिशा में रहा है। यह सही है कि पुराने वर्ग नष्ट हुए। किन्तु नए वर्ग बनते और बद्धमूल होते जा रहे हैं। युगोस्लाविया के भूतपूर्व उपप्रधानमन्त्री ने अपने 'दि न्यू क्लास' किताब में कहा है कि हमने पुराने वर्ग नष्ट किये किन्तु नये वर्गों का निर्माण हुआ। शासक और शासित दो वर्गों का निर्माण हुआ है। क्रुश्चेव ने एक लेख में लिखा था कि मुझे पता नहीं चलता कि क्या किया जाय। छोटे बच्चों में भी यह वर्ग की भावना निर्माण हो रही है। शासक और तकनीशियनों के बच्चे स्कूल के मध्यावकाश में अलग ग्रुप बनाकर बैठते हैं और मजदूर—किसान के बच्चे अलग गुट में बैठते हैं। बचपन में ही वर्ग की भावना निर्माण हो रही है। उसे कैसे दूर किया जाय?

रूस के स्पुतनिक छोड़ने के बाद क्रुश्चेव ने एक उद्धृत वक्तव्य में कहा कि स्पुतनिक कम्युनिज्म की विजय का परिणाम है। इस पर बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा था कि यह कम्युनिज्म के विजय का नहीं, पराजय का प्रमाण है। यदि वैज्ञानिकों को विशेष सुविधा और अधिकार न दिये गये होते तो स्पुतनिक विज्ञान और अनुसंधान की प्रेरणा न मिली होती। किसी वर्ग को विशेष सुविधा और अधिकार देना कम्युनिज्म के घोषित सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

बात सिर्फ विशेषाधिकार प्राप्त एक-दो वर्गों की ही नहीं। आज कम से कम और ज्यादा से ज्यादा आमदनी में १ और ८० का अन्तर है। आय में अन्तर तो है ही। आर्थिक विषमता भी है और धीरे-धीरे अलग वर्ग बनते जा रहे हैं।

यह भी कहा गया कि सरकार समाप्त हो जायेगी। यह विचार भी कभी साकार होगा, इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। कम्युनिस्ट देशों में सरकारें अधिकाधिक दृढ़ और मजबूत होती जा रही हैं। समाप्त होने की बात कहीं दिखाई नहीं देती।

कम्युनिज्म स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कहता है। वह राष्ट्र के व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करता। लेकिन आज इन अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों की हालत बड़ी विचित्र है। आज अन्तर्राष्ट्रीयता के अन्दर से राष्ट्रवाद विकट रूप धारण करके खड़ा होता जा रहा है। स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कहने वाली कम्युनिस्ट सरकारों के राष्ट्रीय संघर्ष बिलकुल स्पष्ट हो गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो कम्युनिस्ट सरकारें लेबिल भर अन्तर्राष्ट्रीयता का लगाती हैं। पिछले महायुद्ध के समय रूस में हिटलर की फौज घुस गई तो कम्युनिज्म और अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर लोगों को लड़ने की और मरने की प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई। स्टालिन को ऐसा अनुभव हुआ। इसलिए उन्होंने एक नारा दिया। वह था 'अपनी पवित्र पितृभूमि की सीमाओं की रक्षा के लिए' अगर वास्तव में कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हैं तो उनकी पितृभूमि की सीमाएं कहां से आयीं ? उनकी पितृभूमि की दो सीमाएं हो सकती हैं—उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव।

कम्युनिस्ट तो कहते हैं कि वे छोटी संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं मानते। एकदम अन्तर्राष्ट्रीयता मानते हैं। कहते हैं हमारा हृदय बहुत विशाल है। उनके लिए तो सीमाओं (Frontiers) की कोई बात ही नहीं। यह उत्तरी ध्रुव से दक्षिण और यह दक्षिणी ध्रुव के उत्तर का सम्पूर्ण क्षेत्र उनकी सीमा में है। किन्तु जब देखा कि अन्तर्राष्ट्रीयता और कम्युनिज्म के नाम पर लोगों को प्रेरणा नहीं मिलती तो उन्होंने राष्ट्रीयता को स्वीकार किया, अपनी पितृभूमि की पवित्र सीमाओं की रक्षा की बात भी की, उन सब राष्ट्रपुरुषों, वीर पुरुषों जिन्हें 'फ्यूडल लार्ड्स' कह कर बुरी तरह निन्दित किया गया था, पुनः आगे लाया गया तथा सत्कारित किया गया, बड़े-बड़े सेनापतियों, पीटर दि ग्रेट जैसे राजाओं, केथरीन दी ग्रेट जैसी रानियों के नाम से जनता के राष्ट्रभाव का आव्हान किया गया। इनके पुतले फिर से लगाए गए और राष्ट्र पुरुषों के पुतले लगाने के कारण फिर रूसी जनता त्याग करने के लिए आगे बढ़ी और आज ऐसा दिखता है कि हरेक कम्युनिस्ट देश में राष्ट्रीयता का जागरण हुआ है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का नाम लिया जाता है, किन्तु विभिन्न कम्युनिस्ट देश अपने-अपने राष्ट्रीय हितों के लिए एक दूसरे के साथ लड़ते हुए दिखाई देते हैं।

उदाहरणार्थ रूस और चीन का झगड़ा है, चीन अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है और रूस भी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है। किन्तु अपनी-अपनी राष्ट्रीयता के लिए दोनों अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कम्युनिस्ट राष्ट्र एक दूसरे से लड़ रहे हैं। युगोस्लाविया अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है,' रूस भी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है किन्तु दोनों अपने राष्ट्रीय हितों के लिए एक दूसरे से लड़ रहे हैं। चेकोस्लोवाकिया अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है, रूस भी अन्तर्राष्ट्रीतावादी है,' दोनों में राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए झगड़ा है। नाम अन्तर्राष्ट्रीयता का किन्तु काम राष्ट्रीयता का। राष्ट्रीयहितों, आकांक्षाओं और व्यक्तित्वों के लिए कम्युनिस्ट देशों के संघर्षों ने अन्तर्राष्ट्रीयता के कोरे सैद्धान्तिक आवरण को समाप्त कर दिया है, उसके खोखलेपन को उजागर कर दिया है।

अब शब्दों के अर्थ बदले जा रहे हैं

कम्युनिज्म मार्क्स के स्थूल मार्गदर्शक सिद्धान्तों से जगह-जगह पीछे हटता जा रहा है। हम हिन्दू चिन्तन की कसौटी से कम्युनिज्म का मूल्यांकन नहीं करना चाहते। कम्युनिज्म अपनी कसौटी पर ही कितना खरा है यह देखना चाहते हैं। हमें देखना होगा कि कम्युनिज्म को कम्युनिस्ट क्या मानते हैं ? कुछ रूढ़िवादी कम्युनिस्ट हैं-वे कहते हैं कि जो मार्क्स ने कहा है वह सब सही था। इस दृष्टि से वे हर चीज की पुष्टि करते हैं। बड़ी सफाई से उनके हर कथन का बचाव करना चाहते हैं। वह कहते हैं कि यह 'इज्म' है। इसलिए यह परिपूर्ण है और जो कुछ मनुष्य जाति की बुद्धि का अन्तिम शब्द है वह मार्क्स ने ही कहा है। इसमें किसी भी कारण कोई फर्क नहीं पड़ सकता है। वह परम निरपेक्ष सत्य है और इस दृष्टि से जहां-जहां मार्क्स गलत सिद्ध हुआ दिखाई देता है वहां मार्क्स को सही सिद्ध करने के लिए मनमाने अर्थ निकालते हैं।

(१) जब यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ (Matter) आधारभूत नहीं है। तब उन्होंने ऐसी खोज शुरू की है कि मार्क्स अन्ध भौतिकतावादी (Crude Materialist) नहीं था, हालांकि हमको तब तक यही बताया गया था कि मार्क्स कट्टर भौतिकवादी है। अब यह भी कहा जाता है कि मार्क्स भौतिकता के ऊपर की भी कुछ बात मानता था, और उन्होंने उसके कुछ प्रमाण भी हमारे सामने पेश किए हैं। जैसे १८४२ में उन्होंने व्यक्ति स्वातंत्र्य के बारे में और मुद्रण स्वातंत्र्य के बारे में कुछ लेख लिखे थे। विशेष रूप से १८४४ में उन्होंने The Philosophical and Economic Manuscript of 1844 लिखा है। उन दोनों के आधार पर कहते हैं कि उन्हें अंधभौतिकतावादी नहीं कहा जा सकता है और वह पदार्थ (Matter) को ही सब कुछ नहीं मानते थे। मन-मस्तिष्क को भी मानते थे। इतने साल के बाद कब कहा जा रहा है कि मन-मस्तिष्क को भी वह कुछ मानते थे। हम जैसा मानते हैं कि मन-मस्तिष्क का स्वतंत्र अस्तित्व है, इतना तो मार्क्स के नाम पर वे कहने को तैयार नहीं। पर अभी-अभी कम्युनिस्टों के एक वर्ग ने ऐसा कहना शुरू किया है कि पदार्थ प्रमुख है। लेकिन मन-मस्तिष्क के अस्तित्व से हम इंकार नहीं करते। उन्होंने कहा मन का स्वायत्त अस्तित्व है। (Mind has autonomous existence) अब इसका मतलब है कि पदार्थ (Matter) सब कुछ है मन-मस्तिष्क

(Mind) कुछ नहीं, ऐसा जब कहा गया तो उसका अर्थ यह था कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां ही सब कुछ हैं और धर्म-संस्कृति नीति नाम की कोई वस्तु नहीं है। धर्म, संस्कृति और नीति तो आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की अधिरचना है। जैसे मन-मस्तिष्क पदार्थ की अधिरचना है, वैसे ही मजहब, संस्कृति और नीति आदि आर्थिक, सामाजिक स्थितियों की अधिरचना है। "Culture, ethics & religion are super structure on ocio economic conditions."

(२) वैसे ही अब उन्होंने कहा कि पदार्थ (Matter) का तो अस्तित्व है। वह प्रमुख भी है, पर मनमस्तिष्क (Mind) का भी अपना अस्तित्व है। अब भी उसको स्वतन्त्रता का स्तर देने के लिए वे तैयार नहीं। लेकिन स्वायत्त हैसियत (Autonomous stature) उन्होंने दिया है। हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों के एक वर्ग ने कहा है कि जैसे सामाजिक-आर्थिक स्थिति मजहब, नीति और संस्कृति को गढ़ती है, "Socio-economic conditions mould culture-ethics-religion," वैसे ही मजहब, संस्कृति और नीति आर्थिक और सामाजिक ढांचे को गढ़ती है। दोनों एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। "Culture, ethics, and religion in their turn mould socio-economic conditions, both act and react upon each other." यह एक सिद्धान्त है जो पहले मार्क्स के प्रतिकूल माना गया था। यही अब मार्क्स के नाम पर व्याख्या देकर बताया जाता है कि मार्क्स के कहने का यही अभिप्राय था। अब तक मार्क्स के नाम पर सबने यह सुना था कि मजहब अफीम है (Religion is an opium) किन्तु अब मजहब के बारे में खास तौर पर इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली और जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टियों ने अधिकृत रीति से कहना शुरू किया कि मार्क्स ने मजहब के बारे में जो कहा था वह सब सम-सामयिक चर्च नीति से प्रभावित चित्र था। वह उसके लिए तो सही था। किन्तु उनके मन्तव्य को सार्वजनीन न माना जाय। अलग-अलग देशों में अलग-अलग कालखण्ड में धर्म का क्या योगदान रहा है, उसका अलग-अलग मूल्यांकन करना पड़ेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर इटली की भी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता टोगलीओट्टो ने पोप साहब के साथ समझौता किया था। कितना विचित्र है कि धर्म के घोर विरोधी कहे जाने वाले कम्युनिस्ट पार्टी के नेता ने ईसाई अर्थात् मजहब के केन्द्र बिन्दु पोप के साथ समझौता किया। अखबार में यह भी पढा गया कि टोगलीओट्टो व्यक्तिगत रूप से पोप की तारीफ करते थे। टोगलीओट्टो की मृत्यु के बाद पोप ने भी कहा कि एक महान 'इटैलियन' मर गया। एक दूसरे की प्रशंसा भी करने लगे। १९६६ की फरवरी में अखबारों में छपा कि ब्रिटेन में १० दिन का एक सम्मेलन हुआ। यह ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सब मन्त्रियों और ब्रिटिश चर्च के सब पादरियों का सम्मेलन था। १० दिन तक वे सब इकट्ठा रहे। विषय था 'धर्म और कम्युनिज्म में समान तत्वों की खोज करना। जब कम्युनिज्म का निश्चित नियम है कि मजहब अफीम है फिर समान तत्वों की खोज क्यों हो रही है? मतलब यह हुआ कि पुनर्चिन्तन शुरू हुआ है।

भारतीय कम्युनिस्टों ने धर्म का रचनात्मक योगदान माना

(३) पहली बार किसी कम्युनिस्ट ने हिन्दुस्थान में यह लिखा कि यहां धर्म की भूमिका वह नहीं रही जो मार्क्स ने कही थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा कि भक्ति सम्प्रदाय का हिन्दुस्थान को इससे एक अलग योगदान रहा है। इसके कारण सामाजिक आधार पर सुधार भी आया है। भक्ति सम्प्रदायों के का ण पंजाब और महाराष्ट्र में राजनैतिक क्रांतियां भी हुई हैं। यह श्रेय देने वाला वाक्य कम्युनिस्टों द्वारा पहली बार लिखा गया। इसे श्री के. दामोदरन ने 'इण्डियन थॉट' (Indian Thought) नामक एक पुस्तक में लिखा है। कम्युनिस्टों ने अभी तक हिन्दुस्थान में जो कहा था और इस किताब में मार्क्सिज्म की जो व्याख्या की गई है यदि उन दोनों की तुलना करेंगे तो कितना अन्तर या परिवर्तन आया है यह पता चल जायगा। इस तरह से परिवर्तन ही परिवर्तन हम देखते हैं।

'वाद' बनाने से ही समस्याएं

वास्तव में मार्क्स के मन में स्वयं अपने सभी विचारों के संकलन को किसी वाद या 'इज्म' में परिणत करना अभिप्रेत था कि नहीं ? इस बारे में संदेह है। इसके विपरीत इसके बारे में यह मानने की बडी भारी गुंजाइश है कि स्वयं मार्क्स अपने विचार को शास्त्रीय विचार की केवल एक दिशा भर मानते थे। उसको 'वाद' या इज्म में परिणत करने की इच्छा नहीं थी। स्वयं मार्क्स का एक वाक्य है—"Thank God I am not a marxist." म भगवान का बड़ा आभारी हूं कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूं। जो मार्क्स स्वयं अपने को मार्क्सवादी न होने पर 'भगवान' से आभार प्रदर्शित करता था उसी के विचार संकलन का उनके अनुयायियों ने वाद (इज्म) बना डाला, यह उनके अनुयायियों का मार्क्स पर भारी अन्याय है। इज्म के सारे स्वरूप का आरोपण उसके ऊपर कर दिया। और अब वह वाद (इज्म) के नाते असफल हो रहा है।

मार्क्सवाद मजहब बना दिया गया

यदि इतना ही माना जाता कि मार्क्सवाद ने एक शास्त्रीय विचार की दिशा मात्र दी तो असफलता न होती। उसमें कई एक गतिमान और विकासशील विचार (Dynamic and developing) और विचार प्रणाली (Way of thinking) हैं, ऐसा यदि मान लिया तो उसमें परिवर्तन हो सकता है। लेकिन उसको यदि आप वाद (इज्म) मानते हैं अर्थात् विचारों की बन्द किताब मानते हैं तो उसमें सभी त्रुटियां दिखाई देती हैं। सुनिश्चित अर्थरचना का न देना मार्क्सवाद की जबरदस्त खामी है। अपने वैश्विक दर्शन में विज्ञान का जो आधार लिया था वह सारा पैरों तले से खिसक रहा है। कम्युनिज्म के सिद्धांत विज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतर पा रहे हैं। आज रूस, युगोस्लाविया तथा चीन में कम्युनिज्म पीछे की ओर हट रहा है। यह भी उसकी एक त्रुटि है यदि यह कहा जाए कि मार्क्स का विचार 'वाद' (इज्म) नहीं है तो कम्युनिस्टों की प्रेरणा ही समाप्त हो ज ती है। इसलिए मार्क्सवाद को उन्होंने मजहब बना डाला है। मजहब के सारे गुणों (Characteristics) को वे मार्क्स के विचारों में समाहित कर देना चाहते हैं। मजहब की पवित्र पुस्तक कुरान या बाइबिल की तरह एक पुस्तक रहे, मोहम्मद साहब या ईसामसीह की तरह एक मसीहा रहे, यह उनकी इच्छा रही है। मजहबी पुस्तक के स्थान पर उन्होंने

'दास केपीटल' (Dass Capital) और पैगम्बर के स्थान पर उन्होंने मार्क्स को रख डाला। सात स्वर्गों के स्थान पर कम्युनिज्म की उच्चतर अवस्थाओं Higher phases of Communism की कल्पना दी जो बिलकुल स्वर्ग के समान है, जहां सबको सब कुछ मिलेगा। इसके लिए उन्होंने एक 'अल्ला' भी बताया द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Materialistic Dilecticism)। इस तरह से एक मसीहा, एक धर्मग्रन्थ एक स्वर्ग, एक अल्ला, इन सारे मजहब के तत्वों को मार्क्सवाद पर वे लागू करना चाहते हैं। उसमें से एक कट्टरता का आभास प्राप्त होता है।

विनाश के कागार पर

मार्क्सवाद विनाश के कगार पर खड़ा है। यदि इसे हठधर्मिता (Dogmatism) के रूप में स्वीकार करना है तो आज ही उसकी पराजय स्वीकार करनी होगी। यदि इसको विकासमान और गतिमान विचार-पद्धति (Devoloping and dynamic thought) के नाते स्वीकार किया जाय तो इसमें इतना परिवर्तन लाना पडेगा कि मार्क्स के साथ इसका कोई सम्बन्ध भी था, यह पहचान पाना मुश्किल हो जायगा मार्क्सवाद चौराहे पर खड़ा है। पथभ्रष्ट और दुविधाग्रस्त उसकी स्थिति है। अन्तर्राष्ट्रवाद का लेबिल लगाने वाले किन्तु वस्तुतः राष्ट्रीयता की कट्टरता को लेकर चलने वाले सभी साम्यवादी राष्ट्र राष्ट्रीय विस्तारवाद से उत्प्रेरित होकर अपने-अपने राष्ट्रीय साम्राज्यवाद को लेकर आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। रूस और चीन अपने राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी उद्देश्यों से भारत में अपना-अपना कम्युनिस्ट दस्ता तैयार करते रहे हैं और कर रहे हैं। उस पर भारी व्यय भी करते हैं। उस पर विचारधारा का आवरण चढ़ाते हैं।

कोई सच्चा कम्युनिस्ट नहीं

यह लगभग वैसी ही बात है जैसे सर्वप्रथम जागतिक इस्लाम एक केन्द्रीत था। उस समय इस्लाम की लहरों में राष्ट्रीयता खो सी गई थी। किन्तु विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता के जागरण के साथ इस्लामी लोग राष्ट्रीयता के आधार पर बहुकेन्द्रित हो गये और पान इस्लामिज्म (Pan Islamism) समाप्त हुआ। यह ठीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय इस्लाम की कल्पना का उपयोग राजनैतिक नेता राष्ट्रवाद के लिए आज भी कर रहे है। उसी तरह राष्ट्रीय विस्तारवाद के लिए मार्क्स के नाम का उपयोग किया जा रहा है। मूल्यांकन के लिए कम्युनिस्टों को ही सोचना है कि कम्युनिज्म को क्या माना जा सकता हैं? आज सब कम्युनिस्ट एक दूसरे को सच्चा कम्युनिस्ट मानने के लिए तैयार नहीं। रूस के अनुसार चीन पथ भ्रष्ट (Deviationist) है। चीन के अनुसार रूस पथभ्रष्ट है। रूस और चीन दोनों के अनुसार युगोस्लाविया पथभ्रष्ट है। युगोस्लाविया के अनुसार रूस और चीन दोनों पथभ्रष्ट हैं। हिंदुस्थान के डांगे के अनुसार नंबूदरीपाद पथभ्रष्ट है। नंबूदरी पाद के अनुसार डांगे पथभ्रष्ट है। दोनों के अनुसार चारू मजूमदार पथभ्रष्ट है। कम्यूनिस्टों ने एक दूसरे को जो प्रमाण-पत्र दे दिए हैं यदि उन सबको इकठ्ठा किया जाय और सबका मूल्यांकन किया जाय तो मानना पडेगा कि तमाम कम्युनिस्ट देश पथभ्रष्ट हो गए हैं। (World communism is equal to world deviationism)। इज्म या वाद के नाते कम्युनिज्म या मार्क्सवाद की इससे बढ़कर असफलता और क्या हो सकती थी?

पिछड़े बन्धुओं की समस्या

आजकल दलित, पीड़ित बन्धुओं की समस्याऐं सुलझाने के लिये उन पर होने वाले अन्याय दूर करने के लिये अनेक वक्तव्य, लेख दिये जा रहे हैं। प्रचार. प्रयत्न चल रहे हैं। किन्तु ऐसा दीख रहा है कि जितना यह प्रचार अधिक हो रहा है उतनी ही इस समस्या की गंभीरता एवं भीषणता बढ़ रही है। दवा दी जा रही है और रोग बढ़ता जा रहा है। इसका क्या कारण हो सकता है ? इस प्रश्न की ओर देखने के दृष्टिकोण में तो कहीं त्रुटि नहीं है ? ऐसा विचार मन में आता है।

प्रश्न सुलझाने की सद्भावना होते हुए भी किसी प्रश्न पर यदि नकारात्मक भूमिका ली गई तो मूल उद्देश्य से विपरीत परिणाम सामने आते हैं। जाति संस्था अन्यायपूर्ण बन गयी है, इसलिये उसे मात्र नष्ट करने का प्रयत्न करने पर जाति–भावना को और बल मिलता है। जाति संस्था नष्ट करने का प्रयत्न करने वालों की ही एक जाति बन जाती है। एक जादूगर ने घोषणा की, कि उस की जादू की लकड़ी पानी में इक्कीस बार घुमाने पर पानी सोने में बदल जायगा, किन्तु एक शर्त पर कि लकड़ी घुमाते समय बन्दर का मुख नजर के सामने नहीं आना चाहिए। अब जो भी लकड़ी घुमाने बैठता, शर्त मालूम होने के कारण अवश्य बन्दर का मुख उसकी नजर के सामने आता। वह स्वाभाविक ही सोचने लगता कि, "जादू तो ठीक है, किन्तु गलती मेरी ही है कि मैं शर्त पूरी नहीं कर पा रहा हूं।" इसी प्रकार नकारात्मक धारणा से कई बार काम बिगड़ता है। यही स्थिति पिछडे हुए बन्धुओं की समस्या पर विचार करते हुए, कई लोगों की हो जाती है।

इसका दूसरा पक्ष भी है। नकारात्मक दृष्टिकोण न रखते हुए क्या विधायक दृष्टिकोण (Positive approach) से यह समस्या सुलझाने की गुंजाईश कहीं है ? जाति भेद का वातावरण इतना उग्र हो गया है कि क्या उसे सुनने भी कोई तैयार रहेगा ? आज कोई किसी की सुनने तैयार नहीं है। निराशाजनक स्थिति है।

कुछ आशादायी बातें

फिर भी, आज की स्थिति में भी कुछ आशादायी बातें (Saving features) अवश्य प्रतीत होतीं हैं। एक है कि कुछ जीवन मूल्य आज भी आदरणीय माने जाते हैं– जैसे सच्चारित्र्य, सद्गुण, साधना, प्रामाणिकता आदि। स्वयं काला बाजारी करने वाला भी चाहता है कि उसका मुनीम प्रामाणिक होना चाहिये। छोटी संकीर्ण भावनाओं की लहरों के नीचे से, आज भी सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना प्रवाहित होते दीखती है, जो कि एक अच्छा लक्षण है। अतएव निःस्वार्थ बुद्धि से

सम्पूर्ण समाज के प्रति अपनत्व का भाव रखते हुए निरपेक्ष सेवा करने वाले कार्यकर्ता की कदर आज भी होती है, चाहे जितनी जातिवाद आदि संकुचित भावना का दौर चला हो।

दूसरा आशादायी लक्षण है कि आज फूट-परस्ती की मनोभूमिका के होते हुए भिन्न-भिन्न विचार एवं दृष्टिकोण रखने वाले भी समान संकट या समस्या को लेकर एकत्रित हो जाते हैं। १९६२ का चीन का आक्रमण, १९६५ एवं १९७१ का भारत-पाकिस्तान संघर्ष आदि समान प्रश्नों के समय सारे मतभेद भुलाकर सम्पूर्ण जनता कन्धे से कन्धा लगाकर खड़ी हो गयी थी। इस प्रकार की जागृति तथा एकता यद्यपि तात्कालिक एवं अल्पजीवि रही, समान विषय को लेकर संगठित होने की सम्भावना अपने समाज में विद्यमान है, यह भी एक शुभ लक्षण है।

समान उद्देश्य

अतः यह सोचने की बात है कि ऐसा कौन-सा समान विषय, समान उद्देश्य अपने समाज के सामने स्थायी रूप से प्रस्तुत किया जाय, जिस के महत्व को समझते हुए संकीर्णता से, भेदभाव से, विद्वेष से ऊपर उठकर सभी लोगों में एकता तथा संगठन की प्रेरणा जाग सके। अपने देश की राष्ट्रीयता के सूत्र को कमजोर करने के लिये विदेशियों ने तरह-तरह के संभ्रम पैदा किये, जैसे आर्य भारत में बाहर से आये, वेद मात्र ब्राह्मणों का साहित्य है आदि। डा. बाबासाहेब आंबेडकर जी ने स्वयं अपने सप्रमाण तर्क द्वारा इन भ्रमों को दूर करते हुए कहा कि आर्य शब्द जातिवाचक नहीं, मात्र गुणदर्शक है, वेदों की रचना में सभी वर्णों का योगदान है, यहां तक कि गायत्री जैसा श्रेष्ठ मन्त्र ऋषि विश्वामित्र ने सिद्ध किया है। जो ब्राह्मण नहीं थे। आप ने कहा है कि वेदकाल में अस्पृश्यता नहीं थी, उपनिषद् काल में भी नहीं थी। मनुस्मृति के समय भी अस्पृश्यता नहीं थी, जो नियम थे वे सभी वर्णों को समान थे। जिसने भी कोई सामाजिक अपराध किया है, उस पर कुछ दिन बहिष्कार किया जाता था, भले वह ब्राह्मण भी क्यों न हो। यह विवरण प्रमाणित करते हुए डा. आंबेडकरजी ने लिखा है कि सम्राट चन्द्रगुप्त के कालखण्ड में किसी समय अस्पृश्यता की रूढ़ि प्रारम्भ हुई, जिसके कारण विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं में निहित हैं। किन्तु एकराष्ट्रीयत्व की मौलिक भूमिका में आज भी उसके कारण कोई कमी आना उचित नहीं है।

एकराष्ट्रीयता

५ फरवरी १९५० में संविधान समिति की बैठक में डा. आंबेडकरजी ने महत्वपूर्ण उद्‌बोधन करते हुए कहा था, "भारत शताब्दियों के बाद स्वाधीन हुआ है। अब इस स्वराज्य की रक्षा हमारा प्रथम कर्तव्य है। अपने समाज में किसी प्रकार की फूट पुनः हम से स्वराज्य छीन लेगी। शताब्दियों की गुलामी के परिणामस्वरूप हम में कुछ विकृतियां, उच्चनीच भेद, आर्थिक विषमता, पिछड़ापन, जातिवाद आदि उत्पन्न हुए होंगे। परन्तु इन्हें अपना हथियार बनाकर कोई विदेशी हमारे स्वत्व का अपहरण करना चाहेंगे तो हम उसे सहन नहीं करेंगे, उनकी यह आकांक्षा हम मिट्टी में मिला देंगे। यह

हमारा घरेलू मामला है, इसे हम आपस में निबटेंगे। अपने लाभ मात्र के लिये या सामाजिक दृष्टि से अवनति की स्थिति से निकलने के लिये हम कोई विदेशियों के हस्तक बनने वाले नहीं हैं। हमें अपने में उत्पन्न होने वाले जयचन्दों से सावधान रहना होगा। अपने इस राष्ट्र के हम सभी अंग-उपांग हैं, इस के हित को हम ठीक प्रकार से पहिचानें, यही आवश्यक है।" इसी प्रकार आंबेडकर जी ने मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व काठमांडू में बौद्ध सम्मेलन में दिया हुआ भाषण एक सार्वजनिक मृत्युपत्र (Public Testament) के रूप में सभी राष्ट्रभक्तों को सदैव स्मरण करने योग्य है, जिस में उनकी श्रद्धायें, मान्यतायें, वेदनाएं, स्वप्न, आदर्श सब कुछ प्रकट होता है। इस प्रकार राष्ट्रीयत्व के सम्बन्ध में उनकी भूमिका दृढ़ एवं विशुद्ध थी। विगत कुछ शताब्दियों की कुरीति एवं रुढ़ियों के कारण पिछड़े हुए बन्धुओं पर हुए अन्याय का निराकरण करने समाज को आगे आना होगा, उस हेतु आन्दोलन छेड़ने होंगे, यह उनका आग्रह था, किन्तु वह एकराष्ट्रीयता की कीमत पर नहीं।

● समस्या के कारण एवं उपाय

अस्पृश्यता कैसे प्रारम्भ हुई, कब हुई, किसने की, किन जातियों ने इसे बढ़ाया इन बातों पर चर्चा, विश्लेषण होता रहता है, जो रोग के ठीक निदान के लिये आवश्यक भी है। किन्तु साथ-साथ इलाज के बारे में भी सोचा जाना चाहिये। आज की बदलती हुई सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति में मात्र नकारात्मक चर्चा असंगत प्रतीत होगी। आज अपने देश में औद्योगिक तंत्रशास्त्र (Industrial Technology) का प्रारम्भ हो चुका है। इसका परिणाम अस्पृश्यता एवं गरीबी की समस्या पर क्या कैसे होगा इस पर गहराई से विचार होना चाहिये। शहरों में आज नये बड़े उद्योग–प्रतिष्ठानों में सभी प्रकार के, भिन्न-भिन्न जातियों के, सभी छोटे बड़े स्थानों से लोग एकत्रित आते हैं, एक जगह काम करते हैं। केन्टीन में चाय पीते समय सभी के साथ घुल मिल जाते हैं। देहात में लौटने पर जातपात फिर मानते भी होंगे, किन्तु शहर की उधेडबुन में भूलते हैं। तंत्रशास्त्र बदलने के साथ-साथ नयी रचना आ रही है, सामूहिक भावना, एकता के नये अर्थ सामने आ रहे हैं (Group Consciousness and Sense of belonging), समान हित सम्बन्ध (Common interests) उत्पन्न हो रहे हैं। इस परिवर्तनों का ख्याल न करते हुए मनुस्मृति की होली जलायें या उस की पूजा करें इस वादविवाद में बुद्धिनिष्ठ लोग यदि उलझे रहे, तो उनकी वह चर्चा असंगत होगी; तब तक उधर वातावरण बदलेगा और जाति संस्था कालबाह्य हो भी जायगी। प्रथम औद्योगिक क्रांति के पश्चात् "अकुशल एवं कुशल" कर्मचारियों के वर्ग के आधार पर मार्क्स ने कुछ सिद्धान्त यूरप में प्रतिष्ठित किये। दूसरी औद्योगिक क्रान्ति के कारण तंत्रशास्त्र एवं उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन आया, और उसमें से जो नया "तज्ज्ञ वर्ग" (Knowledge-Class) निर्माण हुआ उसके सन्दर्भ में मार्क्स का पूर्व विश्लेषण काल–बाह्य हुआ। अतएव "जातिभेद नष्ट करो" का नारा लगाते रहने के बदले, बदलती हुई समाज रचना में कौन से नये शुभ लक्षण (assets) उत्पन्न हो रहे हैं, उनका अध्ययन कर, समाज में एकात्मता लाने हेतु कौन से समान उद्देश्यों की नये सिरे से प्रतिष्ठापना की जाय

इस पर विचार करना पीडित एवं पिछड़े हुए बन्धुओं की समस्याएं सुलझाने के लिये आवश्यक होगा। नया जन संगठन, नया एकात्म भाव, नयी अपनत्व की जागृति किस आधार पर करना इसके स्पष्ट विचार से ही मार्ग प्रशस्त होगा।

१९३५ के भारतीय कानून के प्रावधान जातिवाद, प्रान्तवाद, आदि को बढ़ावा देने वाले थे। राजनीति में चुनावों की वर्तमान प्रक्रिया भी इन भेदों को प्रोत्साहन देने वाली है। एकात्म समाजशक्ति की निर्मिती में यह बड़ा भारी व्यवधान अवश्य है, जिस पर गम्भीरता से विचार होना आवश्यक है। फिर दूर दृष्टि से सोचना होगा, रचनात्मक विचार करना होगा, चुनावी राजनीति से ऊपर उठ कर समाजहित की स्थायी भूमिका समक्ष रखनी होगी, जिस में प्रारंभ में दिये कुछ शुभ लक्षण अवश्य सहायकारी सिद्ध होंगे।

कम्युनिज्म का खतरा

इस दृष्टि से डा० आंबेडकर जी का स्मरण फिर एक बार आता है। मेरा सौभाग्य है कि मुझे उन्हें केवल निकट से देखने का ही नहीं, प्रत्यक्ष वार्तालाप एवं विचार विनिमय का भी अवसर मिला, जिसमें उनके विशुद्ध राष्ट्रीय एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय प्रचुर मात्रा में मिलता था। उन्होंने बौद्ध मत का स्वीकार करने के कुछ दिन पूर्व मैंने उन्हें पूछा, "अतीत में अस्पृश्यता एवं अन्य कई प्रकार से अन्याय और अत्याचार हुए, किन्तु आज हम कुछ युवक उन दोषों को दूर करते हुए एक स्वस्थ समाज रचना खड़ी करने के लिये प्रयत्नशील हैं, इस बात पर क्या आपका ध्यान आकृष्ट हुआ है ?"

उन्होंने कहा, "तुम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बात कर रहे हो ?" उन्हें मालूम था कि मैं संघ-प्रचारक था। आगे कहा, "तुमको ऐसा लगता है कि मैंने इस पर कुछ भी नहीं सोचा होगा ?"

"मुझे ऐसा नहीं लगता–" मैंने कहा।

"फिर बताओ," वे कहने लगे, "१९२५ में तुम्हारा संघ प्रारम्भ हुआ। आज २७–२८ वर्ष बाद तुम्हारी संख्या, मान लो, सत्ताईस–अठ्ठाईस लाख होगी। इस हिसाब से इस विशाल समाज को एक सूत्र में बांधने के लिये कितना समय लगेगा!–मैं जानता हूं कि रेखागणिती प्रगति (Geometrical progression) का हिसाब अलग होता है–फिर भी बहुत समय लगेगा। तब तक परिस्थिति रुकने वाली नहीं। और मैं भी तब तक कहां रहूंगा ? मेरे सामने तो एक मुख्य प्रश्न है कि, मेरे जाने के पहले मुझे मेरे समाज को कुछ निश्चित दिशा (Definite direction) देना होगी।"

"मेरे लोग आज तक दलित, पीड़ित, शोषित रहे हैं–" उन्होंने आगे कहा, "अब उनमें कुछ जागृति आ रही है, जिसके कारण कुछ आक्रोश, क्रोध, जोश भी स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के लोग बहुत जल्दी कम्युनिज्म का भक्ष्य (Cannon-fodder of Communism) बन सकते हैं। किन्तु मैं नहीं चाहता कि मेरा समाज (अनुसूचित जातियां) कम्युनिज्म का शिकार बने। अपने राष्ट्र की दृष्टि से मुझे कुछ

दिशा बदल कर उन्हें मार्ग दिखाना होगा। आप लोग भी संघ के द्वारा राष्ट्रहित में प्रयास कर रहे हैं। मैं फिर भी समझता हूं कि यदि मैंने मेरे लोगों को दिशा नहीं दी, और यदि वे कम्युनिज्म की ओर मुड़ गये, तो शायद तुम लोग उन्हें राष्ट्रीय धारा में फिर से नहीं ला पाओगे। क्योंकि सही-गलत का सवाल ही नहीं, तुम कह रहे हो इसीलिये मेरे लोग तुम्हारी बात शायद सुनेंगे नहीं !

"अतएव जाने के पकले मुझे सारी व्यवस्था करना है। याद रखो, दलित लोगों और कम्युनिज्म के बीच आंबेडकर एक अवरोध बन कर खड़ा है, और शायद वैसे ही सवर्ण हिन्दुओं और कम्युनिज्म के बीच गोलवलकर जी भी अवरोध रूप खड़े हैं। (Between Sheduled castes and Communism, Ambedkar is the barrier and between caste Hindus and Communists Golwalkar may be a barrier)।"

आत्मीयता

यह सम्पूर्ण शब्दशः (Verbatim) बातचीत मैंने इसलिये यहां पर उद्धृत की है कि दलित, पीड़ित, शोषित बन्धुओं की समस्याओं के प्रति, उन पर हुए अन्याय-अत्याचारों के बारे में पूरी आत्मीयता से (उपकारकर्ता की (Patronising) दृष्टि से नहीं) विचार करते हुए उसका राष्ट्रीय हल कैसे किया जाय इस पर इसमें सुस्पष्ट मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है। यह सारा विचार करते हुए अन्त में डा० आंबेडकर जी ने भिन्न-भिन्न प्रलोभनों को ठुकराते हुए, बौद्ध मत भारतीय होने के कारण उसे ही अपनाने में अपने समाज के राष्ट्रीयता में आघात (De-Nationalisation) नहीं पहुंचेगा, इतना दूरदर्शी विचार रखा। इसी प्रकार की रचनात्मक भूमिका की आज महती आवश्यकता है।

ढाई अक्षर प्रेम के–

"उच्च ध्येय" सामने होने पर छोटे-छोटे विभेद समाप्त हो जाते हैं यह संसार का अनुभव रहा है। "प्रेम" के आधार पर ही पीडित बन्धुओं की पीड़ा दूर हो सकेगी। हमारा राष्ट्र सनातन है। प्रगति–अवनति, सुख-दुख के कई दौर हमने झेले हैं, फिर भी राष्ट्र रूप में हम विद्यमान हैं, क्योंकि संकटों से नष्ट होने के लिये इस राष्ट्र का निर्माण हुआ ही नहीं। यदि हम समझदारी से काम लें, व्यक्तिवाद एवं स्वार्थ पर अंकुश लगायें, तो परम वैभव के सुदिन शीघ्र प्राप्त होंगे। अपने राष्ट्र में एक आन्तरिक क्षमता (inherent strength) है, जो सभी कठिनाइयों एवं विघटनकारी शक्तियों पर विजय प्राप्त करेगी एवं फिर से एकात्मता स्थापित करेगी। इस आत्मविश्वास से भरपूर तपश्चर्या करने वाले, सारे समाज को प्रेम से दोनों हाथों से अपनाने वाले कार्यकर्ता निश्चय ही यश प्राप्त करेंगे।

● श्रमिकों की स्थिति

विगत ३० वर्षों से, श्रमिक वर्ग को औद्योगिक अशान्ति के लिये सर्वथा दोषी मानना, एक फैशन बन गया है। पर यह कभी नहीं माना गया कि निजी क्षेत्र के

व्यवस्थापक आर सार्वजनिक क्षेत्र के अफसर साधारणत: श्रमिकों के मनोविज्ञान को सही प्रकार से समझ नहीं पाते। राष्ट्रीय नीति, योजनायें तथा श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योग–नीति निर्धारण करते समय न तो उनके विचार जाने जाते हैं, न ही उनका विश्वास प्राप्त किया जाता है। परन्तु उनसे सरकार एवं व्यवस्थापकों से निष्ठापूर्ण सहयोग करने की अपेक्षा सदैव की जाती है। विश्वास देकर विश्वास प्राप्त होता है, किंतु श्रमिकों के प्रति सरकार द्वारा एक अविश्वास की भावना के कारण मेहनतकशों में स्वाभायिक आक्रोश पनपते गया है। अन्य लोग राष्ट्र के लिए अपना दायित्व पूरा न करें, और मात्र श्रमिकों को सदा देश के लिए त्याग करने की सीख दें, यह उचित नहीं है। आज श्रमिक बड़ी सावधानता से यह देख रहा है कि क्या उद्योगपति, सरकार एवं प्रबन्धक उसके प्रति प्रामाणिक सद्भावना से सोचते हैं? यदि उसे यह झलक मिलेगी, तो वह निश्चय ही राष्ट्रीय नेताओं तथा सरकार के आवाहन का योग्य प्रतिसाद देगा।

श्रमिक यह भी जानना चाहेगा कि क्या नियोजक एवं उद्योगपति सभी श्रमिक कानूनों का काग़ज रूप से पालन करेंगे? द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय समझौतों तथा बोर्ड के अनुबंधों का, बिना विलंब या संशोधन के, स्वीकार करेंगे? अनैतिक एवं गैर–कानूनी श्रम-सौदेबाजी निरुत्साहित करेंगे? स्वेच्छिक समझौते की भावना से उदार तथा सरल श्रमनीति अपनायेंगे?

यह चिंता का विषय है कि बहुसंख्य कर्मचारियों में एवं श्रमिकों, में (जो संगठित नहीं हैं– या संगठित हैं, फिर भी–) आज असुरक्षा की भावना व्याप्त है। देश का बड़ा श्रमिक तबका आज भी कानून से 'श्रमिक' की परिभाषा में मान्यता प्राप्त नहीं है। औद्योगिक सुरक्षा दल, सेना और पुलिस विभाग के धार्मिक संस्थाओं के, विदेशी सेवा के, अनुबंधित सेवाओं के, ठेकेदारों के कर्मचारियों की समस्याएं भी यथावत विद्यमान हैं। दैनिक मजदूरों का शोषण पूर्ववत जारी है। नियोजित एवं संगठित प्रयास के अभाव में ये सभी प्रश्न कठिन होते जा रहे हैं। यदि हम पूर्ण ईमानदारी से राष्ट्रीय निर्माण में भागीदार होना चाहते हैं, इन समस्याओं के निराकरण हेतु एक नई विचारधारा का निर्माण करना होगा, एक नया दृष्टिकोण अपनाना होगा।

अश्रद्धा एवं सन्देह

हमारा मौलिक उद्देश्य (Mission) यदि राष्ट्र के पुनर्निर्माण का है, कुछ समस्याएं हल कराने मात्र का नहीं, तो आज मजदूर क्षेत्र का उस दृष्टि से अध्ययन करने पर क्या दिखाई देता है? सर्वसाधारण मजदूरों की हालत आज यह है कि उनके सामने कोई भी सर्वमान्य नेतृत्व या संगठन नहीं है। अलग-अलग टुकडों में बटा हुआ नेतृत्व कमजोर होता जा रहा है। एक नई प्रक्रिया आज नजर आ रही है कि प्रस्थापित श्रद्धाओं को आज धक्का पहुंच रहा है। कहीं न कहीं श्रद्धा थी, किन्तु पिछले कुछ दिनों के अनुभव के आधार पर सर्वसाधारण मनुष्य सन्देहवादी (Sceptic) बनता जा रहा है। श्रद्धा का भाव कम होता जा रहा है, हरेक व्यक्ति के बारे में, हरेक दल के विषय में, हरेक घटना के सम्बन्ध में अश्रद्धा एवं सन्देह का भाव लोगों के मन में निर्माण हो रहा है। यह अच्छी बात नहीं। यह अश्रद्धा एक छूत की बीमारी होती

है। यदि पुरानी श्रद्धा टूट जाय, जिन के बारे में पहले श्रद्धा थी वह वास्तव में श्रद्धा-योग्य नहीं है ऐसा यदि एक बार लगे तो केवल उस व्यक्ति या संस्था के बारे में मनुष्य की श्रद्धा समाप्त नहीं होती, बाकी सब के ब रे में भी एक अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस तरह का सन्देह का भाव लोगों के मन में खड़ा हो सकता है। मैं समझता हूं, देश के लिए यह सबसे बड़ी खतरे की बात है।

यह बड़ा खतरा

इस तरह का संदेहवाद एवं अश्रद्धा का वायुमंडल देश में ज्यादा देर तक रहा तो देश में लोकतंत्र का टिकना तो कठिन है ही, किंतु एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जिन्दा रहने के लिए जो हिम्मत लोगों में चाहिए वह भी टूट जायगी। यह वातारण केवल लोकतंत्र के लिए ही नहीं राष्ट्रीयता के सभी समर्थकों के लिए एक बहुत बड़ी कठिनाई, एक बहुत बड़ा आव्हान (challenge) है। मैं केवल राजनैतिक दलों की बात नहीं कर रहा हूं। मजदूर संगठन के क्षेत्र में भी यह अश्रद्धा एवं सन्देह का वातावरण चारों ओर फैल रहा है।

किन्तु यह एक आव्हान भी– !

कहते हैं कि (Difficulties do not come alone)–कठिनाइयां कभी अकेले नहीं आतीं। एक बार कहीं छेद हो गया तो वहां दस अनर्थ पैदा हो सकते हैं। किन्तु इस कहावत का दूसरा एक मतलब भी है। कठिनाइयां अकेले नहीं आतीं, इसका मतलब यह भी है कि (they come with opportunities)–वे साथ में आपको काम करने का स्वर्ण अवसर भी लाती हैं। इसी प्रकार आज का अश्रद्धा एवं सन्देह का वातावरण, एक कठिनाई अवश्य है किन्तु राष्ट्रवादी विचारकों के लिए एक अवसर भी है। यानी यह आवश्यक है कि श्रद्धा एवं विश्वास का वातावरण पुनः स्थापित करना। सन्देह के कारण आज जो श्रद्धा का रिक्तक (Vacuum) उत्पन्न हुआ है उस की पूर्ति अपनी राष्ट्रभक्ति, अपनी ध्येयनिष्ठा, अपना चारित्र्य, अपनी निःस्वार्थ बुद्धि, मजदूरों के बारे में अपनी आत्मीयता, अपने अथक परिश्रम आदि के द्वारा राष्ट्र निर्मिति के लक्ष्य को लेकर चलने वाले कार्यकर्ताओं को करना है। उसी से अश्रद्धा के बातावरण में हम पुनः एक ऐसा दृश्य निर्माण कर पायेंगे कि यह राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं का समूह ऐसा है, जो श्रद्धायोग्य है, मजदूरों का समर्थक है और राष्ट्र का भी।

हमारा स्थायी विचार

इस दृष्टि से हम मजदूर संगठन को राजनैतिक संगठन प्रणाली (Political Unionism) नहीं मानते, मात्र आर्थिक संगठन पद्धति (Economic Unionism) भी नहीं मानते। किसी भी राजनैतिक दल के अंग के रूप में काम नहीं करते, न केवल रोटी की समस्या हमारा एकमेव लक्ष्य है। रोटी तो एक लक्ष्य है, उसी के लिये संगठनों का निर्माण होता है। हिन्दुस्थान के ६० प्रतिशत लोग जीवन-रेखा के नीचे हैं जिन्हें खाने को दो बार नहीं मिलता। उन्हें राहत कैसे पहुंचायी जाय, जो

काम कर रहे हैं उन्हें न्यूनतम वेतन कैसे मिलेगा और कम से कम आवश्यक सुविधाएं कैसे प्राप्त होगीं यह बात तो हमारे सामने अवश्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक बात और है। यह हमारा राष्ट्र है। इसे हम समृद्ध, सम्पन्न, बलशाली बनायेंगे। हम प्रयास करेंगे कि दुनिया में हमारा राष्ट्र प्रथम स्थान पर पहुंचें। आज कोई रूस को, कोई अमरीका को क्रमांक एक मानते हैं और हमारे नेता उधर चक्कर काटते हैं। यह स्थिति बदलकर, दुनिया के किसी भी राष्ट्र को ऐसा कुछ भी करना हो जिसका असर जागतिक परिस्थिति पर हो सकता है तो उन्हें पहले इसकी चिन्ता करना पडे कि भारत का इस पर क्या कहना है, इस प्रकार का संसार का नेतृत्व हमारा भारतवर्ष फिर कर सके इसलिये हम प्रयत्नशील रहेंगे।

राष्ट्र के पीडित, दलित समाज का उद्धार करना उनकी भौतिक समृद्धी का निर्माण करना, शिक्षा की दृष्टि से उन्हें आगे बढ़ाना एक ओर, और आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर संसार का नेतृत्व करने की उनकी क्षमता बढ़ाना यह भी विचार दूसरी ओर करना है। जिस शरीर का आधा हिस्सा पंगु होगा, लूला होगा, वह शरीर कैसे बलशाली होगा ? जिस राष्ट्र का ६० प्रतिशत शरीर पीडित है, दरिद्र–रेखा के नीचे है, वह राष्ट्र अपने केवल १० प्रतिशत पूंजीपतियों और विद्वानों के सहारे संसार में अग्रणी नहीं हो सकता। अतएव शोषित, पीडित, दलित बन्धुओं के प्रति आत्मीयता एवं राष्ट्रीय आकांक्षा, दोनों हमारी मौलिक प्रेरणाएं हैं।

राष्ट्र नीति

इसी दृष्टि से पीड़ित बन्धुओं की समस्याओं पर एवं मजदूरों की स्थिति पर विचार करते समय हम मांगों के साथ–साथ कर्तव्यों का भी विचार करते हैं। जब कभी समाज पर संकट आता है तो हमारे राष्ट्रवादी कार्यकर्ता अपना स्वार्थ भूल कर राष्ट्रकार्य के लिये अग्रसर होते हैं। १९६२ के चीन के आक्रमण के समय, १९६५ के पाकिस्तान के संघर्ष के समय, १९७१ में बंगला देश की लड़ाई के समय, १९७५–७६ में अन्तर्गत आपात्काल (Emergency) के समय साहस के साथ हमारे कार्यकर्ता खतरा (Risk) उठाते हुए भी समयोचित कार्य करते रहे। कोई पूछते हैं कि जब आपकी राजनैतिक संगठन प्रणाली नहीं है, तो आपने ये सारे काम क्यों किये ? उसका कारण है कि हम राजनैतिक (Political) नहीं हैं, किन्तु हम राष्ट्रनैतिक एवं लोकनैतिक हैं। 'राष्ट्रनीति' यह हमारा स्वभाव (character) है। हम प्रयास रत हैं कि राष्ट्र के पुर्ननिर्माण का जो बृहत् प्रयास चल रहा हैं, पीडित, दलित, किसान, मजदूर आदि का कार्य करना उस प्रयास का एक अविभाज्य अंग है, और वह मोर्चा सम्हालना हमारा कर्तव्य है।

संघे शक्तिः.....

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' क्या है, इस विषय में यदि समझना हो तो संघ की प्रार्थना का अध्ययन करना चाहिये। संघ का उद्देश्य, नीति एवं कार्य के सम्बन्ध में प्रार्थना में पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं। "परं वैभवं नेतुम् एतत् स्वराष्ट्रम्–" (इस अपने राष्ट्र को वैभव की उच्च कोटि पर पहुंचाना) यह संघ का ध्येय है। उसे प्राप्त करने हेतु "अस्य धर्मस्य संरक्षणम् विधाय–"(इस धर्म की सुरक्षा करते हुए) यह शर्त रखी गयी है। इस शर्त के साथ अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये "विजेत्री संहता कार्य-शक्ति–" (विजयशालिनी संगठित कार्यशक्ति, आवश्यक है। अतः समाज के संगठन का मौलिक कार्य संघ कर रहा है।

संघ स्वयंसेवकों के मन में संघ के उद्देश्य एवं नीति के बारे में संभ्रम नहीं पैदा होता क्योंकि वे शाखा द्वारा नियमित सम्पर्क में रहते हैं। किन्तु स्वयंसेवक कोई कांच के घर में तो रहता नहीं। आसपास के वातावरण का भी प्रभाव उस पर होता ही रहता है। नये-नये लोगों से सम्पर्क करते हुए उन्हें संघ के निकट लाने का प्रयास करना हरेक स्वयंसेवक का काम है, और उसी काम को करते हुए उसके मस्तिष्क पर समाज में विद्यमान वातावरण का कुछ परिणाम तो होगा ही। संघ कार्य अवश्य परिस्थिति-निरपेक्ष हैं, अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति में भी संघ कार्य आवश्यक है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संघ स्वयंसेवक का मन परिस्थिति-सापेक्ष नहीं होगा। वह बुद्धि से संघ कार्य की परिस्थिति-निरपेक्षता को समझता है, किन्तु मन परिस्थिति के झकोरे के साथ दोलायमान होता ही है। इसी दृष्टि से समय-समय पर अपना कार्य, उसका स्वरूप, उसकी स्थिति, कितना हुआ, कितना आगे करना है आदि पर मूल्यांकन करना आवश्यक होता है।

देश में जिस प्रकार का वातावरण होता है, स्वयंसेवकों पर उसका कुछ परिणाम होता हैं। विशेष कर राजनैतिक क्षेत्र में जो कुछ होता है उसके सम्बन्ध में आजकल बड़ी उत्सुकता नजर आती है। मुझे समझ में नहीं आता, कि ऐसा क्यों ? दिल्ली में होते हुए भी मैं राजनैतिक व्यवहार एवं व्यक्तियों के बारे में बहुत जानकारी रखने की विशेष कोशिश नहीं करता। फिर देशभर में स्वयंसेवकों को मात्र इसी बात की इतनी उत्सुकता क्यों ? शायद कहीं कुछ मौलिक धारणा (Basic understanding) में गड़बड़ तो नहीं है ? जानकारी रखना अच्छा है–मात्र राजनीति के बारे में नहीं, विज्ञान तंत्रशास्त्र, नक्षत्र–चन्द्रमा–सूर्य आदि सभी के बारे में जानकारी रखना अच्छा है। साथ-साथ राजनैतिक व्यक्तियों के बारे में भी रखने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु सामान्य

ज्ञान (General Knowledge) के तौर पर। देश का या संघ का भविष्यकाल इन राजनैतिक बातों पर मानो निर्भर हो इस प्रकार की उत्सुकता जब कहीं-कहीं दीखती है, मुझे आश्चर्य होता है। लगता है कि मूल धारणा का स्मरण फिर से करना आवश्यक है।

राजनीति, मात्र एक अंग–

आजकल राजनीति को ही सर्वस्व मानते हुए सत्ता के सहारे ही सब कुछ हो सकता है ऐसा एक विचार प्रबल होता हुआ दिखाई देता है। अतः माना जाता है कि सबसे महत्त्वपूर्ण काम कोई है तो सत्ता कब्जे में लाना। इसलिये शासन अपने हाथ में आया, तो मेरे पितर सरग भये। जब तक शासन पर कब्जा नहीं करते, कुछ नहीं कर पायेंगे, ऐसा एक भ्रम सब दूर नजर आता है। आश्चर्य की बात है कि जो अपने आपको लोकतंत्र के समर्थक बतलाते हैं वे भी इसी धारणा से प्रभावित हैं। वास्तव में लोकतंत्र का मतलब है लोगों का शासन, लोगों के द्वारा शासन। लोकतंत्र और तानाशाही कभी एक साथ चल नहीं सकते। ऐसा होते हुए सत्ता हथियाने का एकमात्र उद्देश्य लेकर चलने वाले, लोकतंत्र की रक्षा कैसे कर सकेंगे ?

क्या शासन सब कुछ करें ?

वैसे ही यह भी धारणा है कि जो कुछ काम होते हैं, शासन के द्वारा ही हो सकेंगे। सब कुछ करना शासन का काम है। किन्तु एक बात सोचने की है कि यदि सब कुछ करने की जिम्मेदारी शासन की है, तो सम्पूर्ण अधिकार भी शासन को ही देने पड़ेंगे। जिम्मेदारी एवं अधिकार समान मात्रा में (Corresponding, Proportionate) होने चाहिये। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की सारी जिम्मेदारी यदि शासन पर आप थोपते हैं, तो सर्वेसर्वा अधिकार भी सरकार को देने चाहिये। और यदि आप सोचते हैं कि सरकार को सारे अधिकार देने से वह तानाशाह बन जावेगी इसलिये सब अधिकार उसे नहीं देना चाहिये, तो फिर सारी जिम्मेदारी भी आपको सरकार पर नहीं थोपना चाहिये। ऐसा नहीं हो सकता कि जिम्मेदारी पूरी सरकार की, लेकिन अधिकार आप के हाथ में। अधिकार भी पूरे सरकार को देना पड़ेंगे, और फिर चिल्लाने में मतलब नहीं कि सरकार तानाशाह बनेगी। किन्तु यदि आप सरकार को पूरे अधिकार देने के लिये तैयार नहीं हैं, तो पूरी जिम्मेदारी भी उनपर थोपना गलत है। जिम्मेदारी सारी सरकार की, और अधिकार केवल हमारा, यह नहीं चलेगा। इसलिये सब कुछ सरकार के माध्यम से ही होगा यह धारणा, लोकतंत्र के लिये खतरा पैदा करने वाली है। यह अव्यावहारिक एवं जनता को आलसी बनाने वाला विचार है।

जागृत एवं स्वायत्त जनसंगठन

क्या आज की स्थिति में, चन्द अच्छे विचार के लोग मिनिस्टर बन जाने से देश का उद्धार होगा ? राष्ट्र निर्माण की कुछ प्राथमिक आवश्यकताएं

(Pre-requisites) होतीं हैं। वे जब तक पूरी नहीं होतीं, सरकार को अपना सीमित काम करना भी असम्भव है। उन आवश्यकताओं में से सर्वसाधारण नागरिक का जागृति का स्तर, सबसे महत्वपूर्ण है। वह ऊंचा रहा, तो गड़बड़ करने वाले राजनैतिक नेता को भी अंकुश लगाया जा सकता है, अन्यथा ऊंचे आदमी भी सत्ता प्राप्त होने पर बिगड़ सकते हैं। कहा गया है कि 'सत्ता भ्रष्ट करती है, और अनियन्त्रित सत्ता निरंकुश भ्रष्टता का निर्माण करती हैं। (Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely.) यदि जागृत जनमत का अंकुश न हो, पद प्राप्त होने पर कुछ न कुछ विकृति उत्पन्न होना सर्वसाधारण व्यक्ति के लिये सहज स्वाभाविक है। भगवान कृष्ण, राजा जनक, पांचवा चार्ल्स जैसे राजर्षि अपवाद स्वरूप ही होंगे, किन्तु वह नियम नहीं है। दूसरी मौलिक आवश्यकता होती है, ऐसे जागृत लोगों के स्वायत्त स्वयंशासित जन संगठन (Autonomous self-governed mass organisations), राष्ट्रीय जागृति का स्तर ऊंचा रखने वाले लोगों का जन संगठन, जो किसी स्वार्थी तत्व (vested interests) के दबाव में नहीं है। ऐसे ही संगठन शासन चलाने वाले व्यक्तियों के व्यवहार पर अंकुश रख पायेंगे। शासन एवं सत्ता सम्हालने वाले या तो स्वयं ध्येयवादी हों, उच्च ध्येय की प्राप्ति हेतु शासन के पदाधिकार को मात्र एक साधन के रूप में मानने वाले हों, या फिर उन पर ऐसे जन संगठनों का उचित प्रभाव हो, जो उन्हें सही ढंग से चलने के लिये बाध्य करें।

ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता–समूह

शासन में अच्छे आदर्शवादी लोग पहुंचने पर भी वे जागृत ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ताओं के अभाव में किसी भी लोकनीति का क्रियान्वयन कर नहीं सकते। क्योंकि सारी कार्यवाही केवल नौकरशाही (Beaurocracy) के आधार पर सफल होना असम्भव है। सरकारें बदल जायें, तो भी यह नौकरशाही जैसे थी वैसे ही रहती है। 'अफसरशाही तानाशाही' (Beaurocratic Authoritism) की पकड़ प्रशासन पर इतनी मजबूत होती है कि, अपवाद छोड़कर, केवल मिनिस्टर बनने से कोई कुछ कर नहीं पाता। योग्यता रखने वाला, अध्ययन करने वाला, मेहनती मिनिस्टर कुछ मात्रा में तो नौकरशाही पर पकड़ पा सकता है, किन्तु हरेक के लिये यह सम्भव नहीं। अतएव प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर ध्येयवादी कार्यकर्ताओं के समूह (cadres) उपलब्ध हों, तभी शासक भी प्रशासन द्वारा कुछ ठोस कार्य करवा पायेंगे।

नैतिक नेतृत्व सर्वोपरि

भारत में समाज का नेतृत्व शासकों ने कभी नहीं किया। यह बात आप और कहीं नहीं पायेंगे। शासकीय सत्ताधारी लोगों को समाज ने 'शासकीय नेता' माना, अर्थसत्ताधारियों को 'आर्थिक नेता' समझा, लेकिन दोनों से श्रेष्ठ माने गये 'नैतिक नेता', जिनकी नीतिमत्ता, चारित्र्य, निस्वार्थ जीवन, परोपकार बुद्धि, समाज के प्रति आत्मीयता के कारण वे समाज के विश्वासपात्र बने। इस तरह के नैतिक नेताओं के ही प्रभुत्व के कारण भारत हजारों साल से बराबर राष्ट्र के नाते जीवित रहता आया है। जहां-जहां सरकार ही समाज जीवन का केन्द्र बिन्दु बनी, किसी कारण सरकार–संस्था टूटने पर

वह समाज जीवन भी टूट गया, समाप्त हो गया। इस प्रक्रिया में कई राष्ट्र संसार में समाप्त हुए, किन्तु हमारा राष्ट्र जीवित है, क्योंकि यहां का समाज जीवन मात्र शासन के ऊपर अवलम्बित नहीं रहा। शासकीय एवं आर्थिक सत्ता के ऊपर भी हमारे यहां नैतिक ऋषियों का प्रभुत्व रहा। आज भी इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हमें करना होगी, यदि हम राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने निकले हैं। यही अपना हिन्दु विचार है।

संघ से विरोध क्यों ?

राष्ट्र की 'विजेत्री संहता कार्यशक्ति' ही राष्ट्रनिर्माण का आधार होगी, न कि कोई शासन–सत्ता या अर्थसत्ता। कोई पूछते हैं कि जब संघ इतना मौलिक कार्य करने चला है, शासकों द्वारा उस पर प्रतिबन्ध एवं तरह-तरह के बन्धन डालने जैसे प्रयास क्यों किये जाते हैं ? इस के दो कारण हैं। हिन्दु विचार रखने वाली और भी कई संस्थाएं हैं। संघ से भी अधिक एकान्तिक तीव्रता (extreme) से बोलने वाले और भी लोग हैं। किन्तु उन पर प्रतिबन्ध लगाने का नहीं सोचा जाता, क्योंकि उनके साथ कोई शक्ति नहीं है। संघ शक्तिहीन होता तो उसकी कोई दखल भी नहीं देता। किन्तु संघ की शक्ति उपेक्षा करनेयोग्य कम नहीं। दूसरा यह भी कारण है कि पर्याप्त मात्रा में संघ की शक्ति इतनी बढ़ी नहीं है, ताकि कोई उसके बारे में गलत बात करने की, झूठे आरोप लगाने की हिम्मत न कर पावें। ऐसी कुछ बीच की स्थिति होने के कारण संघ का विरोध होता है। किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं। इस स्थिति से आगे बढ़ने हेतु शीघ्रता से और एकाग्रता से हमें अपनी शक्ति बढ़ाने पर जुट जाना चाहिए। क्योंकि यह कार्य राष्ट्र के पुनर्निर्माण की नींव के रूप में आवश्यक जागृति पैदा करने का ईश्वरीय कार्य है। इसे आत्मविश्वास के साथ करना होगा, सत्ताश्रय के आधार पर नहीं। कोई भी जनसंगठन यदि शासकों के आधार से चलता है, किसी कारण से वे शासक टूटने पर वह संगठन भी लड़खड़ा जाता है। जनतंत्र में सत्तापक्ष बदलेंगे, राजनेता बदलेंगे। क्या हमें उन पर अपना कार्य निर्भर रखना उचित होगा ?

आत्मविश्वास से कार्य करें

वास्तव में राष्ट्रनिर्माण का काम किसी राजशक्ति के सहारे कभी होता नहीं। वह सम्पन्न होता है जनसंगठन की ताकत पर। वह ताकत इतनी बड़ी मात्रा में हमें खड़ी करना है कि वह शासन–निरपेक्षता से अपने कार्य में अग्रसर हो। कोई भी शासन, कोई भी दल, कोई भी मंत्रिमण्डल रहे, राष्ट्रनिर्माण के मौलिक कार्य में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करने का विचार भी उनके मन में न आवे, इतनी मजबूत शक्ति हम खड़ी करेंगे यह आत्मविश्वास हमारे हृदय में होना चाहिये। वह न होने से, फिर हमारे मन में राजनैतिक घटनाओं एवं उथल-पुथल के कारण कमजोरी आती है, उनकी चिन्ता हम अधिक करने लगते हैं, और 'दक्ष-आरम की कम।

'दक्ष-आरम' की चिन्ता अधिक करें

संघ-कार्य की, संघ-वातावरण की चिन्ता हमें अधिक करना चाहिये। संघ-वातावरण की निर्मिति का रहस्य है परस्पर-आत्मीयता। शाखा कार्यक्रम के पश्चात् आपस में मिलना, कौन आये कौन नहीं आये इसकी पूछतांछ करना, कोई स्वयंसेवक या

उसके परिवार में कोई बीमार हो उसे मिलना, आवश्यक सहायता आदि की व्यवस्था करना इस प्रकार की बातें जहां होतीं हैं, वहीं शाखा संघ की मानी जायगी। वीकिर–१, २, ३, ४ होते ही यदि राजनीति की या और कोई गपशप शुरू होती है, उस शाखा में 'संघ' कहां ? ऐसी शाखा के स्वयंसेवक भी आत्मविश्वासहीन बनते जायेंगे। बाहरी परिस्थिति से संघ का कार्य निरपेक्ष रहने का अर्थ है 'संगठन' की यह प्रक्रिया नजर से ओझल न होने देना।

कई बार पूछा जाता है, 'आप देश में घूमते रहते हैं, बताइये संघ की शक्ति कितनी है ? कितनी बढ़ी ? या कम हुई ?' क्या संघशक्ति पर्याप्त बढ़ी है ऐसा मुझसे उत्तर पाने पर आप घर जा कर सोना चाहते हैं कि अब कुछ करना बाकी नहीं ? वास्तव में पूछने वाले का मन्तव्य होता है संघ पर जो भिन्न-भिन्न प्रकार के आक्रमण, टीकाटिप्पणी, विरोध आदि होते हैं उन के सन्दर्भ में संघ–शक्ति की मात्रा को जानने का।

असली राष्ट्र-विरोधक कौन ?

मैं आपको आगाह करना चाहूंगा कि समाचारपत्रों में जो लेख, भाषण आदि आदि संघ विरोध में आते रहते हैं, उनपर आप मत जाइये। वास्तविक विरोध का वह चित्र नहीं है। संघ के राष्ट्रनिर्माण के कार्य में जो प्रबल विरोध करते हैं, उनके कोई स्टेटमेंट्स समाचारपत्रों में नहीं आते। संघ को समाप्त करने के उनके प्रयास बड़ी योजना से चल रहे हैं। वे अपना भी संगठन संघ विरोध में खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं। विचार प्रणाली एवं संगठन प्रणाली के दोनों मोर्चों पर वे संघ को परास्त करने की सुनियोजित ढंग से कोशिश कर रहे हैं। समाचार पत्रों में उनके नाम नहीं आते, भाषण नहीं छपते, स्टेटमेंट्स् नहीं दिये जाते। उनके प्रति हमें अधिक सजगता से ध्यान देना आवश्यक है। आप समझ सकते हैं कि ये तत्व विदेशी विचारधारा को भारत में स्थिरता एवं लोकप्रियता प्राप्त कराने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जन संगठन खड़ा करने के प्रयास में हैं। हमें वास्तविक आव्हान (Challenge) तो इन्हीं तत्वों का है। हमें चिन्ता करना है उनके प्रचार की, पत्रकारों की, या स्टेट्मेंट देने वालों की नहीं। और फिर हमारी शक्ति का मूल्यांकन करना चाहिये।

(१) सिद्धान्तों की आन्तरिक शक्ति

संघ शक्ति की वर्तमान स्थिति के बारे में जानने की उत्सुकता होती है, तो कौनसे मापदण्ड से शक्ति का अन्दाज लगाया जा सकता है ? केवल संख्या के, बहुमत के मापदण्ड से किसी विचार की श्रेष्ठता को नापा नहीं जा सकता। लोकतंत्र में संख्या का महत्व होता है, चुनाव बहुमत के आधार पर जीते जाते हैं। शायद इसी दृष्टि से संघ की भी संख्या पूछी जाती है। वास्तव में संघ–विचार एक स्थायी सिद्धान्त है जो किसी राष्ट्र के पुनर्निर्माण की नींव है। उसकी सत्यता आन्तरिक शक्ति (Inherent strength) पर निर्भर है, मात्र संख्या बल पर नहीं।

जैसा कि पहले मैंने बताया था, बहुत पहले से यूरोप में समझा जाता था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चक्कर काटता है। इस धारणा के पीछे बहुमत की–

मानो सार्वमत की मान्यता थी। अकेले गैलिलियो ने कहा, 'सूर्य केन्द्र में है और पृथ्वी उसके चक्कर काटती है।' किन्तु आगे चलकर उसी के अल्पमत सिद्धान्त को सारी दुनिया ने माना। उस सिद्धान्त की निजी शक्ति के कारण ही वह सफल सिद्ध हुआ, संख्या के आधार पर नहीं।

महात्मा गांधी से किसी ने पूछा,—'राजनीति में आप अनशन, रामधुन, धर्म, संस्कृति, रामराज्य आदि बातों को क्यों लाते हो? इनका राजनीति से क्या सम्बन्ध?' महात्माजी ने कहा, 'देखो, रोम के साम्राज्य का सम्राट था ज्युलियस सीझर। उसके पीछे सम्पूर्ण साम्राज्य की शक्ति थी। असंख्य आदमी थे। अब सोचो, ईसाई मत के संस्थापक जीझस ख्राइस्ट थे, उनके मात्र बारह शिष्य थे। उनमें से भी एक गद्दार निकला। जीझस ख्राईस्ट को भी सूली पर चढ़ाया गया। आज सम्राट सीझर के पीछे कोई बचा नहीं, किन्तु केवल ग्यारह शिष्यों के नेता ईसा मसीह के करोड़ों शिष्य संसार भर में फैले हुए हैं। आज किसको विजयी कहोगे? केवल राजनीति करने वाले सम्राट सीझर को, या स्थायी नैतिक बातें रखने वाले ईसा मसीह को?' महात्मा जी का यह उत्तर हमारे विचार से बहुत संगत है।

साक्रेटिस पर आरोप लगाया गया कि यह झूठा है, युवा पीढ़ी को गुमराह करता है। इसी बात पर उसे हेमलाक नाम का विष जबरदस्ती पिलाकर मारा गया। उस समय उन ७–८ युवकों को छोड़कर सारा ग्रीस देश उसके विरुद्ध था। उसे विष पिलाने वाले का नाम भी कोई नहीं जानता, किन्तु साक्रेटिस के गहन सिद्धान्तों को सारी दुनिया मानती है।

अग्नि का गुण है उष्णता एवं प्रकाश देना। सर्वसत्ताधारी भारतीय लोकसभा में यदि सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया कि भविष्य में अग्नि अपना स्वभाव बदलकर ठंड एवं अन्धकार प्रदान करेगा, क्या परिणाम होगा? उस प्रस्ताव के कारण यदि कोई संविधान-पण्डित अग्नि को आलिंगन देने चला, तो उस का हाल क्या होगा? बहुमत के प्रस्ताव से अग्नि अपना गुणधर्म बदलने वाला नहीं, क्योंकि वह उसकी आन्तरिक शक्ति है।

उपरोक्त सभी उदाहरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सिद्धान्तों की महत्ता उन पर चलने वालों की संख्या पर नहीं, उनकी अपनी अंगभूत शक्ति पर निर्भर करती है।

(२) कार्य-पद्धति की निजी शक्ति

वैसे ही उन सिद्धान्तों को चरितार्थ करने हेतु बनायी गई कार्यपद्धति के विषय में भी देखना चाहिये कि क्या उसमें भी ऐसी कोई आन्तरिक शक्ति है? मैं अपने ५० से भी अधिक वर्षों के अनुभव से कह सकता हूं कि अपने संघ की कार्यपद्धति संपूर्ण समाज का संगठन खड़ा करते हुए, विजेती संहता कार्यशक्ति का निर्माण करने में स्वयं पूर्ण है। इसे सुचारू रूप से अपनाने पर हमें किसी दूसरे पूरक (Supplimentary) कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात, किन्हीं अन्य आकर्षणों के कारण यदि हम इस पद्धति को छोड़ दें, अन्य कोई विकल्प नहीं है जो हमें उसी गन्तव्य स्थान पर पहुंचा

सकेगा, जहां इस कार्यपद्धति द्वारा हम राष्ट्र को पहुंचाना चाहते हैं। इस प्रकार यह कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है, और एकमात्र है। "एषः पन्थाः न विद्यते अयनाय—" इस प्रकार हमारे इस कार्यपद्धति की भी आन्तरिक शक्ति मजबूत एवं सुदृढ़ है।

अतः इस संगठन का मूल्यांकन किस मापदण्ड से किया जाय। ? वैसे किसी की व्यक्तिगत शक्ति भी सभी परिस्थितियों में समान नहीं होती। मामूली ठंड से डरने वाला स्वयंसेवक बड़े सबेरे शाखा जाते हुए ठंड की चिंता न करते हुए निकल पड़ता है। उसी की शक्ति के दो स्तर बन जाते हैं। खाना बनाते हुए हाथ जलने से घबड़ाने वाली महिला घर में आग लगने पर उस में फंसे हुए अपने बच्चे को सुरक्षित बचा लेने के लिए उसी आग में कूद पड़ती है। इस प्रकार व्यक्तिगत शक्ति का भी स्तर समय के अनुसार अलग-अलग होता है। एकत्रित हुए ५०० व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति का भी स्तर उनके उद्देश्य के आधार पर भिन्न भिन्न होगा। बाजार में आए हुए ५०० व्यक्तियों, और संघ स्थान पर आये हुए ५०० व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति का स्तर एक जैसा हो नहीं सकता। संख्या समान होगी, किंतु बाजार में इकठ्ठा व्यक्तियों का व्यक्तिमत्व (Identity), उन का अहंकार, उनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होंगे। उनमें से कोई शक्ति का निर्माण नहीं होता। संघ स्थान पर एकत्रित स्वयंसेवक अपना अहं दूर रख कर 'हम सब एक है' इस भाव से आपसी प्रेम के आधार पर संगठन करते हैं, उनकी एक शक्ति बन जाती है। सब के सामूहिक अहंकार से एक संघटन बनता है (Organisation is the ego of all, put together)। 'संगठन', और 'भीड़' में यही मौलिक अन्तर होता है।

(३) संगठन की एकात्म शक्ति

'भीड' एक मिश्रण (Mixture) मात्र होता है। सफेद नमक, सफेद शक्कर और सफेद रेता एकत्रित कर देने से कोई एकात्म चीज नहीं बनती। क्योंकि तीनों एक जैसे दीखने पर भी अपना-अपना गुण धर्म त्यागते नहीं। उनकी सम्मिलित शक्ति वजन आदि से शायद जोड़ लगा कर नापी जा सकेगी, किंतु इससे अधिक नहीं। जब दो चीजें अपना-अपना अलगाव त्याग कर सम्पूर्णतः एक हो जाती हैं (Compound) और उस में से जब तीसरी एकात्म चीज पैदा हो जाती है, तब उस तीसरी चोज की शक्ति, केवल दो मूल चीजों की शक्ति के जोड़ से कहीं अधिक बन जाती है। बीजगणित में एक बड़ा मौलिक सिद्धांत आता है। दो नेता 'अ' और 'ब' मानो एकत्रित आये, और उनका वर्ग माने उनकी अपनी-अपनी प्रगति भी हुई, तो बना $अ^२ + ब^२$। जब तक ये दोनों अपना-अपना अहं सम्हालते हुए अलग व्यक्तित्व के साथ केवल धन चिन्ह से जुड़े हैं, कोई नई निर्मिती नहीं होती। अब वे दोनों अपना दृष्टिकोण बदल कर अलगाव छोड़ कर, यदि कोष्टक में संगठित हुए और उस पूरे कोष्टक का वर्ग किया गया तो बनता है $(अ + ब)^२$, जिस में से ही नया रूप बनता है, $अ^२ + २ अ ब + ब^२$। अब यह बीज गणित की शास्त्रीय प्रक्रिया है, किन्तु एक बात सबको समझ में आयेगी कि इस नये रूप में '२ अ ब' यह एक नई चीज पैदा हो गई, जो पहले नहीं थी। अ और ब दोनों जब एकात्म अस्तित्व (Entity) बन गये, तभी उन में से एक नये शक्ति का उद्गम

हुआ। यही किसी संगठन की आन्तरिक शक्ति (Inherent strength) होती है, जिसका निर्माण मात्र शक्तियों के जोड़ से नहीं, एकात्मता के कारण ही हो सकता है। संघ की शक्ति इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने के कारण संख्या आदि आम नाप तौल के माप-दण्ड उसे लागू नहीं किये जा सकते। उसे तो उस के प्रभाव एवं परिणाम के आधार पर ही नापा जा सकेगा।

कार्यकर्ता का उच्चतम स्तर आवश्यक

इस सारे विवेचन से एक बात स्पष्ट होगी। तीन शक्तियां स्थायी हैं—(3 constant factors)। (१) सिद्धांतों की आन्तरिक शक्ति, (२) कार्यपद्धति की निजी शक्ति, (३) संगठन की एकात्म शक्ति। ये तीनों संघ के विषय में सुप्रतिष्ठित हो चुकी हैं। परिस्थिति के अनुसार बदलती रहने वाली मात्र चौथी शक्ति है। 'स्वयं-सेवक की अपनी निजी शक्ति'। स्वयंसेवक को सदैव प्रयास करना चाहिए कि इस चौथी शक्ति का स्तर उच्चत्तम (Maximum highest) रहे। इस की चिंता हम करें, बाकी बातों की चिंता अपने आप होगी। अतः आत्मपरीक्षण करते हुए, आवश्यक गुण एवं निष्ठा तथा कुशलता को बढ़ाते हुए हम अपना कर्त्तव्य पूरा करें। राष्ट्र का निर्माण समाचार पत्रों में आने वाली आलोचना, टिप्पणियों आदि से नहीं, तो राष्ट्रनिष्ठ एवं संगठित, नागरिकों के परिश्रम से ही हो सकता है।

श्री. दत्तोपन्त ठेंगडी . . . .

●

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विद्यार्थी–परिषद, विश्व हिन्दू परिषद, वनवासी कल्याण परिषद, भारतीय बोध सभा, दीनदयाल शोध संस्थान, भारतीय किसान संघ आदि अनेक राष्ट्रवादी कार्यों में अपनी युवावस्था से ही निस्वार्थ रूप से जुटे रहते हुए श्री. दत्तोपन्त ठेंगडी जी ने अनुभव किया कि भीषण विषमता के कारण एवं राष्ट्रीय चरित्र के अभाव में अपने देश का उत्थान सम्भव नहीं।

भारत में मजदूर आन्दोलन मातृभूमि के प्रति अटूट प्रेम के साथ जुड़ा हुआ न देखने के कारण उन्हें पीड़ा हुई जिसके फलस्वरूप 'भारतीय मजदूर संघ' जैसे दल निरपेक्ष राष्ट्रवादी संगठन का निर्माण १९५५ में किया गया, जो १९७८ की शासकीय गणना में सम्पूर्ण भारत में द्वितीय स्थान का श्रमिक संगठन घोषित किया गया है। मात्र २३ वर्ष की अल्पावधि में यह उपलब्धि श्री. ठेंगड़ी जी के अद्वितीय मार्गदर्शन का एवं राष्ट्रभक्त कार्यकर्ताओं के अथक प्रयास का परिणाम है।

भारत की अपनी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक विचारधारा का सघन अध्ययन एवं संगठन–कुशलता, दोनों पहलुओं के कारण श्री. दत्तोपन्त ठेंगडी जी आज भारत के एक मौलिक विचारक के रूप में सर्वदूर परिचित हैं। राज्यसभा के सदस्य के नाते भी उन्होंने सतत सही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। 'भारत माता की जय' यही एक मन्त्र हमें अपने प्राचीन राष्ट्र के पुनर्निर्माण की प्रेरणा दे सकता है, यह श्री. ठेंगड़ी जी का अटल विश्वास है।